आध्यात्मिक उपन्यास
अमृत पुत्र
-सुदर्शन सिंह 'चक्र'

अमृतपुत्र

लेखक-
श्री सुदर्शन सिंह जी 'चक्र'

*

प्रकाशक-
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा संस्थान

मथुरा-२८१००९ (उ.प्र)

*

मुद्रक-
राष्ट्रीय प्रेस,
डैम्पीयर नगर, मथुरा-२८१००९
दूरभाष:१३७

*

प्रकाशन तिथि:-
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, वि.सं. २०३८
२३, अगस्त,१९८१ ई.

प्रथमावृति-२५००
मूल्य-१०)००
संशोधित मूल्य-१२)००

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।

अनुक्रमणिका 'अमृतपुत्र' पुस्तक की
पूर्व खण्ड

(Please click on chapter name below to read respectative chapter)

पूर्व खण्ड

प्रस्तावना-

अब यह पुस्तक उपदेश न बनकर उपन्यास बन गयी है। अत: आवश्यक हो गया है इसकी प्रस्तावना लिख देना। इसलिए आवश्यक हो गया है, जिससे पाठक इसका उद्देश्य समझ सकें।

यह अद्भुत उपन्यास है। न ऐतिहासिक, न ठीक पौराणिक ही। आध्यात्मिक उपन्यास भी कहना कठिन है। इस प्रकार का कोई उपन्यास मैंने कहीं देखा-सुना नहीं।

'आञ्जनेयकी आत्मकथा', 'शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा' भी मेरे उपन्यास हैं और उपन्यास ही हैं 'प्रभु आवत' तथा 'वे मिलेंगे' भी; किन्तु चारों पौराणिक उपन्यास हैं। भक्तिरस प्रधान हैं। उन्हें भावुक भगवद्भक्त बड़े प्रेम से पढ़ते हैं।

यह अमृतपुत्र अपनी सर्वथा भिन्न परम्परा रखता है। इसका उद्देश्य है परिचय देना। गोलोक साकेतादि की स्थिति क्या है, यह ग्रंथों में होने पर भी लोकमानस में स्पष्ट नहीं होती। उन अतीन्द्रिय लोकों का वर्णन भी वाणीका विषय नहीं। फिर भी उनका कुछ स्वरूप इस उपन्यास से स्पष्ट होगा।

मर्त्यलोक (भूलोक), भुवर्लोक (प्रेत लोक), स्वर्ग (देवलोक), महर्लोक (सिद्धलोक), जनलोक (दिव्य ऋषि लोक), तपोलोक (तपस्वीलोक) और सत्यलोक (ब्रह्मलोक) कहां हैं, कैसे हैं?

नरक क्या हैं? यमलोक तथा यमराज, यमदूत, चित्रगुप्त क्या हैं और कैसे काम करते हैं? वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि लोकपाल क्यों कहलाते हैं, क्या काम है इनका? इनके लोकों की स्थिति क्या है?

नीचे के सात लोक क्या? अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल कहाँ हैं? क्या स्थिति है इनकी?

ब्रह्मा सृष्टि कैसे करते हैं? विष्णु के पालक तथा रुद्र के संहारकर्ता होने का क्या अर्थ है? इनके लोक कहाँ है? कैसे हैं? शेषनाग ही का क्या अर्थ है?

सतयुग, त्रेता, द्वापर युग कैसे हुआ करते हैं? उस समय का रहन-सहन, सामाजिक स्थिति क्या है?

इन सब विषयों का पुराणों में वर्णन तो किया गया है, किन्तु बहुत संक्षिप्त और सांकेतिक रूप में। इनका वर्णन किया जाय तो बहुत रूखा वर्णन होगा। यह 'अमृतपुत्र' उपन्यास इन सब विषयों को समझाने के लिए है। हिन्दू पुराणों के इन तथ्यों को सरल, सुबोध रूप में वर्णन करने के लिए है।

इस वर्णन के साथ भक्ति-सिद्धान्त का सर्वत्र रक्षण है। सनातन धर्म की मान्यताओं को स्वीकार करके उसके नियमों, सिद्धान्तों को इसमें स्पष्ट किया गया है।

'पादोस्य विश्वाभूतानि तृपादस्यामृतं दिवि।'

व्यापक ब्रह्मतत्त्व के एक पाद में माया-मण्डल है और शेष तीन पाद में अमृत - अविनाशी दिव्यलोक हैं।

वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक, देवीलोक आदि दिव्य लोकों की चर्चा ग्रन्थों में है। इनके नाम सुने हैं आपने। ये भावलोक हैं। ये कितने हैं, कहना कठिन है। सम्भवत: असंख्य हैं; किन्तु यही परम सत्य हैं। सर्वव्यापक हैं।

ब्रह्म सगुण-निर्गुण उभयरूप है। दोनों रूप परस्पर अभिन्न हैं। यह वर्णन विस्तार से भगवान वासुदेव, श्रीद्वारिकाधीश, पार्थ-सारथि, नन्दनन्दन, शिवचरित तथा रामचरित के खण्डों की प्रस्तावना में दिया जा चुका है। यहाँ इसका विस्तार नहीं। यहाँ केवल इतना कि ये भावलोक ही परम सत्य हैं, नित्य हैं। सृष्टि इनका प्रतिबिम्ब मात्र है। किसी भी निष्ठा के अनुसार आराधना करके इनमें-से किसी लोक की प्राप्ति होती है। निर्गुणतत्त्व ब्रह्म ज्ञान से प्राप्त होता है।

इन सगुण लोकों की ठीक स्थिति वर्णन का विषय नहीं है। इनमें देश, काल का वर्णन केवल समझाने के लिए है। देश-काल उनमें कल्पित हैं। हमारी सृष्टि वहाँ मानसिक-स्वप्न सृष्टि के समान है। देश-काल भी एक नहीं हैं। विभिन्न देश-काल हैं विभिन्न वर्गों के। वस्तुतः देश और काल भी सापेक्ष तत्त्व हैं - कोई सत्य नहीं हैं।

इन लोकों के पश्चात् बात आती है सृष्टि की अर्थात् एक पाद विभूति की - इस माया-मण्डल की। इसी में देश, काल, पदार्थ की प्रतीति है और सब वर्णन इसी को लेकर हैं। इसमें भी ब्रह्माण्ड अनन्त हैं।

एक ब्रह्माण्ड का अर्थ है एक सौर-मण्डल। अपने सौर जगत में पृथ्वी, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये ग्रह तो पहिले से जाने हुए हैं। विज्ञान ने तीन ग्रह और ढूढ़े हैं - प्रजापति, वरुण और वारुणि (हर्षल, नेपच्यून और प्लूटो)।

राहु और केतु छाया ग्रह हैं। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। ऐसे मंगल, गुरु, शनि आदि के भी उपग्रह हैं। इनमें गुरु के तीन चन्द्रमा हैं और शनि के तो कई हैं।

आपको आकाश में जो नीहारिका (छायापथ) दीखता है, उसमें जितने तारे हैं, सब सूर्य हैं। आकाश में रात्रि में दीखने वाले तारों में ऊपर के ग्रहों को छोड़ दें तो जितने तारे हैं, सब सूर्य हैं और इस देवयानी नीहारिका के ही भीतर माने जाते हैं। इन तारों की संख्या कई अरब है। अपना सूर्य इस नीहारिका मण्डल का प्राय: सबसे छोटा और एक ओर लगभग कोने में स्थित तारा है।

नीहारिकाएँ भी कितनी हैं? अब विज्ञान ने भी कह दिया कि अनन्त हैं। अनन्त नीहारिकाएँ और प्रत्येक में अरबों सूर्य। इस प्रकार आप अब विराट भगवान के - 'रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड' की कल्पना कर सकते हो।

हम अपने ब्रह्माण्ड अर्थात् सूर्य-मण्डल से बाहर न जा सकते और न उससे बाहर की जानकारी पाने का हमारे पास कोई उपाय है। सात लोकों का जो वर्णन है, वे हमारे अपने ही ब्रह्माण्ड में हैं और नीचे के सात लोक भी इसी ब्रह्माण्ड के। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अपने-अपने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र होते हैं। अत: हमारे इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा लोकपालों का वर्णन ही पुराणों में है। अन्य ब्रह्माण्डों का वर्णन हमारे लिए निष्प्रयोजन है और उन्हें जानने का उपाय भी नहीं। दिव्य लोकों का वर्णन तो उपासना की सिद्धि के लिए किया गया है।

विज्ञान भी मानता है कि प्रकृति में प्रकाश से तीव्रगामी दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। अतः प्रकाश से अधिक गति पायी नहीं जा सकती। हमारे 'सूर्य-मण्डल' से निकटतम तारा अर्थात् दूसरा सूर्य कम-से-कम चार प्रकाश वर्ष दूर है। कोई कभी किसी प्रकार प्रकाश की गति का भी वाहन बना ले - जिसकी कोई सम्भावना नहीं, तब भी निकटतम दूसरे ब्रह्माण्ड तक जाकर लौटने में कम से कम आठ वर्ष लगेंगे। अतः वैज्ञानिक भी सूर्य-मण्डल से बाहर जाना सम्भव नहीं मानते हैं।

ब्रह्मलोक तक का सब वर्णन हमारे अपने ब्रह्माण्ड का है। जीव जिस ब्रह्माण्ड का है, उसके पाप-पुण्य से प्राप्त होने वाले

लोक उसी ब्रह्माण्ड में हैं। उसके कर्म से होने वाला जन्म-मरण उसी लोक में; क्योंकि उसके संस्कार उसी लोक के हैं। संस्कारों से ही कर्म तथा कर्मफल होता है।

कर्मशास्त्र इस बात को इस ढंग से कहता है कि पृथ्वी के मनुष्यों के ही कर्म से पृथ्वी के सब पदार्थ तथा सूर्यादि ग्रह-उपग्रह, लोक-लोकन्तर बने हैं। ये सब कर्म लोक हैं। कर्म निर्मित हैं और उनमें कर्मफल भोगने ही जीव जाता है। अत: जिस ब्रह्माण्ड में कर्मलोक है, उसी में उसके कर्मनिर्मित लोक भी बनेंगे। इस प्रकार मनुष्यों के समष्टि प्रारब्ध से ये लोक बनते हैं और व्यष्टि प्रारब्ध से उसे नाना योनियों में जन्म लेकर कर्म भोग पूरा करना पड़ता है।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तो एक तत्त्व के ही तीन रूप हैं। ये जीव नहीं होते। जो सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सर्वसञ्चालक है, जिसे ईश्वर कहा जाता है, वही सगुण निराकार तत्त्व प्रत्येक ब्रह्माण्ड में रजोगुण का अधिष्ठाता होकर सृष्टिकर्ता है, सत्त्वगुण का अधिष्ठाता बनकर शेषशायी या वैकुण्ठ-विहारी विष्णु है और तमोगुण का वही अधिदेवता बनकर रुद्र है। ये रूप प्रत्येक ब्रह्माण्ड में हैं। उपास्य लोकों में जो परमतत्व नारायण, शिव, शक्ति, श्रीराम या कृष्ण रूपमें हैं - उनके तो अंशभूत ये कोटि-

कोटि ब्रह्माण्डों के अधिपति ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इनकी शक्तियाँ ब्रह्माणी, रमा एवं उमा हैं।

इन त्रिदेवों के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में कारकपुरुष और सामान्य जीव, ये दो प्रकार, भेद जीवों के हैं। कारक पुरुषों में कुछ अतिशय पुण्यात्मा जीव हैं और कुछ ईश्वरीय विभूतियाँ हैं। लोकपाल दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे इन्द्र सौ अश्वमेध सम्पन्न करनेवाला कोई भूतपूर्व चक्रवर्ती होता है। लेकिन वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपाल, मनु, वेदव्यास प्रभृति कारक पुरुषों में सदा जीव ही नहीं होते। कभी जीव होते हैं और कभी भगवान ही इन रूपों में अवतीर्ण होते हैं। इस चतुर्युगी के वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन अवतार हैं।

'अमृतपुत्र' अथवा भद्र सीधे गोलोक से आता है मर्त्यधरा पर। यह अवधारणा इसलिए करनी पड़ी क्योंकि ब्रह्मण्ड के सब लोकों में घूम आने की सामर्थ्य अपेक्षित थी और चारों युगों का भी वर्णन करना था। देवर्षि नारद अथवा उनके जैसे किसी ऋषि को मुख्यपात्र बनाने पर उनकी मर्यादा उन्हें सर्वत्र पूज्य बनाये रखती। फलतः सहज सामान्य वातावरण का वर्णन कहीं सम्भव नहीं होता।

गोलोक के ही गोपकुमार को लेने का भी कारण है। भावलोकों में मेरा अपना मन कन्हाई से जितनी एकात्मता स्थापित कर पाता है, उतना तादात्म्य अन्यत्र सम्भव नहीं होता।

यह सब लिखने का तात्पर्य मात्र इतना है कि आपके लिए यह अमृतपुत्र सुगम, सुबोध बन सके। आप अपना आत्मीय बना ले सकें इसे। लेकिन इसका यह तात्पर्य सर्वथा नहीं है कि मैंने यह सब सोचकर योजनापूर्वक लिखा है। यह ऐसा बन गया तब मैं यह प्रस्तावना लिखने बैठा। मैं तो यह भी नहीं जानता था कि यह उपन्यास बनेगा। कृति तो यह यदि किसी की है तो मेरे कन्हाई की है।

'कला कला के लिए' पर मेरी आस्था कभी नहीं रही। कला को सोद्देश्य होना चाहिए और वह उद्देश्य समाज के लिए शिव होना चाहिए। वैसे यह उपन्यास है, सर्वथा कल्पित उपन्यास। अतः घटनाओं में किसी की सत्यता का प्रमाण आप मागेंगे तो अन्याय करेंगे। जो तथ्यों के विवरण हैं, वे भी कहीं एक स्थान पर नहीं हैं। अतः उनका मूल बता पाना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। पता नहीं इससे पौराणिक सत्य को समझने में आपको कितनी जानकारी बढ़ेगी।

केवल एक सन्तोष - इस अमृतपृत्र के माध्यम से प्रायः कन्हाई का स्मरण होता रहा है और आपको भी होगा।

अपनी बात-

अनेक बार व्यक्ति अकल्पित कार्य करने को विवश होता है। मैं क्यों इस पुस्तक को लिखने में लगा - बहुत विचित्र बात है। उपदेश देने-लिखने में मेरी कोई रुचि नहीं है और श्रीकृष्ण-चरित, श्रीरामचरित लिखने के बाद से तो सर्वथा नहीं। श्रीमद्भागवत की वाणी मुझे बहुत ही प्रिय है -

स वाग्विसर्गो जनताघसंप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि
नामान्यनन्तस्य यशोंकितानियत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ।
- 12.12.51

लेकिन यह पुस्तक उपदेश की ही बनेगी - यह भी कैसे कह सकता हूँ। अपनी ओर से लिखने नहीं बैठा। कभी सोचकर, योजना बनाकर लिखा नहीं। सदा की भाँति एक शीर्षक सूची बना ली है। सूची बनाकर आशंका होती है, यह निरा उपदेश न बन जाय। बनेगा क्या, यह तो वह जानता है, जो अन्तर्यामी बनकर सदा लिखवाता रहा है। वह नटखट तो है; किन्तु अपना है, अतः वह कुछ करावे, ठीक ही करावेगा।

इस लेखन-प्रवृत्ति की भी एक कथा है। यहाँ मसूरी में अभी पिछले सप्ताह ही रात्रि में लगभग एक बजे नींद खुल गयी और मन में पिछली लिखी एक झाँकी चलने लगी। वह बहुत कुछ परिवर्तित होती गयी। वही है इस पुस्तक का 'तुम्हारी जय हो' शीर्षक।

बात समाप्त हो जाती, लिखने की नौबत ही न आती यदि वह झाँकी पूरी होकर नींद आ जाती। लेकिन दूसरी झाँकी प्रारम्भ हो गयी - 'भूत या भविष्य' और उसके चलते पौने तीन बज गये।

मेरे लिए यह नवीन बात थी। मैं डटकर सोने वालों में हूँ। रात्रि में यह निद्रा-भंग मुझे अच्छा नहीं लगा। डर लगा कि यह क्रम चला तो सवेरा हो जायगा। चार बजने में पाँच-दस मिनट रहते शय्या त्याग न करूं तो नित्यकर्म सूर्योदय से पूर्व पूरे ही न हों। अत: मैंने मनीराम से कहा - 'बन्द कर दो यह सब और सो जाओ।'

इस प्रकार निद्रा नहीं आती लगी तो मैंने कहा अपने कन्हाई से - 'भैया, सो जाने दे। यह सब मैं लिख दूंगा । एक छोटी पुस्तक लिख दूंगा - बस?'

सचमुच मन की उधेड़-बुन बन्द हो गयी ओर मैं सो गया। सबेरे उठकर मैंने कापी मँगवायी और सूची बना डाली। अब इस सूची के आधारपर लिखा क्या जायगा, यह बात यह नटखट मयूरमुकुटी ही जानता होगा। मैं तो रात्रि में इसे दिये वचन को पालन करने के लिए लेखनी लेकर कागज काला करने बैठ गया हूँ।

कागज ही तो काला किया है मैंने सदा। उसमें जो वर्ण्य विषय है, वह तो मेरा नहीं है। वह सदा ही कन्हाई का अनुदान रहा है। इस बार ही कोई नयी बात नहीं होनी; किन्तु इसलिए अटपटा लग रहा है; क्योंकि सूची ऐसी बनी है जैसे यह उपदेश का पोथा बननेवाला हो।

कन्हाई की जैसी इच्छा - इस बाबा नन्द के लाडले की इच्छा पूर्ण हो। लेकिन उपदेश ही क्यों - यह उपन्यास भी तो बन सकता है।

रॉकफोर्ट लॉज — **सुदर्शन सिंह**

मसूरी — 14-6-1979

एन्द्रियक जीवन-

'आप आँख बन्द किये क्यों बैठे हैं?' भद्र ने झुंझलाकर उस ऋषि की दाढ़ी हिला दी। यह भी कोई बात है कि कोई गोलोक में आकर इस प्रकार रीढ़ सीधी करके नेत्र बन्द करके बैठे। ध्यान ही करना हो तो पृथ्वी है, महर्लोक है, तपोलोक है, जनलोक है और सत्यलोक-ब्रह्मलोक भी है। दिव्यलोक में ध्यान करने की हठ थी तो यह जटाधारी शिवलोक क्यों नहीं गया।

'क्या?' उस वलीपलित काय, सुदीर्घजटी ने नेत्र खोले और सामने देखा। कुछ रोष भरे स्वर में पूछा - 'यहाँ अन्तर्मुख होना अपराध है?'

'अन्तर्मुख? किसलिए?' भद्र को विचित्र लगता है यह अन्तर्मुख शब्द। उसे, इसमें अपने कन्हाई की उपेक्षा भी लगती है। यह नन्दनन्दन समीप हो और कोई नेत्र बन्द करके बैठे। यह समीप न हो तो इसे ढूँढना चाहिये या ऐसे गुमसुम बैठे रहना चाहिये। उसने तनिक झुककर उन उजले केश मुनि महाराज को घूरकर देखा - 'आपके दोनों नेत्र ठीक हैं। नासिका, कर्ण भी ठीक हैं और आप तो बोल भी लेते हैं।'

एक तेरह-चौदह वर्ष का नटखट बालक इस प्रकार झुककर आँख, नाक, कान देखे, मुख समीप लाकर जैसे पता लगा रहा हो कि कान या नाक में छिद्र है या नहीं, तो आपको कैसा लगेगा? कुशल कहिये कि उसने कोई तिनका डालकर देखने की धृष्ठता नहीं की थी।

'तुम क्या कहना चाहते हो?' मुनि महाराज को बालक की चेष्टा से रोष आ गया। ये दढ़ियल बाबाजी लोग रुष्ट शीघ्र हो जाते हैं - 'इन्द्रियाँ हैं, अत: उनका उपयोग - ऐन्द्रियक जीवन ही सब कुछ है? इनके निरोध का, अन्तर्मुख होने का प्रयोजन तुम्हें सीखना चाहिये! तुम ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करो।'

'अच्छा!' मुनि महाराजको आशा थी कि बालक डरेगा, हाथ जोड़ेगा। गिड़गिड़ाकर शाप-निवृत्ति की प्रार्थना करेगा; किन्तु बालक ने तो ताली बजायी। खुलकर हँसा - 'कन्हाई मेरे साथ रहेगा; किन्तु अब वह आपको अँगूठा दिखा दे तो मैं नहीं जानता।'

'ऐं!' मुनि महाराज चौंके; किन्तु अब चौंकने से लाभ? गोलोक कोई स्थूल लोक है कि वहाँ से किसी को निकालना पड़े

या कोई वहाँ अपनी शक्ति के बल पर रह सके। भगवती योगमाया की पलक मात्र हिलती हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बन जाते या मिट जाते हैं।

मुनि महाराज ने जैसे ही रोष-ग्रहण किया, वे समझ ही नहीं सके कि उनकी अवस्था क्या हुई या हो रही है। अपना शाप भी उन्होंने कहाँ पूरा किया, किसे दिया, यह बतलाने की स्थिति में वे भी नहीं रह गये। गोलोक कहाँ गया, क्या हुआ - उन्हें पता नहीं।

मुनि महाराज को केवल यह लगा कि वे उस अतीन्द्रिय दिव्य लोक से बाहर हो गये और बाहर-बाहर होते जा रहे हैं। ऊपर से नीचे की बात व्यर्थ है। वहाँ काल या स्थान का प्रवेश नहीं है। जैसा अनुभव आपको गाढ़ निद्रा से जागने पर होता है, ठीक वैसा भी नहीं। किसी को यदि क्षण-दो-क्षण को प्रगाढ़ ध्यान हुआ हो तो जैसा अनुभव उस ध्यान से जागने पर होता है, कुछ-कुछ वैसा अनुभव।

वे महामुनि थे - इतने भक्त एवं ज्ञानी कि गोलोक पहुँच सके थे। दुर्भाग्य उनका कि दीर्घकाल तक योगी भी रहे थे। निर्विकल्प-निर्बीज समाधि सिद्ध योगी। अतः गोलोक पहुँचते ही वहाँ के अकल्पनीय सौन्दर्य ने उन्हें अन्तर्मुख कर दिया था।

अब उलटी गति प्रारम्भ हो गयी थी। वे समझ रहे थे कि वे बड़े वेग से जैसे सूक्ष्मतम से स्थूल की ओर फेंक दिये गये हैं; किन्तु विवश - कोई प्रयत्न सम्भव नहीं था। कहीं अवस्थिति नहीं हो रही थी। अवस्थान के प्रयत्न को भी अवकाश नहीं था।

ठीक सोचने की भी स्थिति तब प्राप्त हुई जब वे यह समझ सके कि वे स्थूल प्रकृति के क्षेत्र में पहुँच गये हैं। लेकिन प्रकृति में आकर भी सूर्य लोक में रुक जाना सम्भव नहीं हुआ। किसी अलक्ष्य शक्ति ने उन्हें जैसे बलपूर्वक अर्चिमार्ग से खींचकर पितृयान के पथ में पटक दिया।

'देव! मुझसे अपराध तो हो गया।' पितृलोक पहुँचकर जब स्थिर हुए, पहिला संकल्प उठ सका, उठा - 'लेकिन अब इस जन का भी आग्रह है कि आप ही इसे अपनावेंगे और आप ही भेजेंगे तो यह आपके कन्हाई के चरणों के समीप जायगा। आप पीछे जायेंगे - यह पहिले जायगा, ऐसा निर्णय यह आपकी अकल्पनीय उदारता पर आस्था करके करता है। आप इसे नेत्र खोलकर जो दर्शन कराना चाहते थे, जिसे अपनी अज्ञता से इसने खो दिया, वह आप ही इसे देंगे। आपका संकल्प व्यर्थ नहीं जायगा - अतः अब इसका क्या होता है, यह चिन्ता आप ही करना।'

'ओम्!' पितृलोक में महामाया की यह स्वीकृति भले न सुनी गयी हो; किन्तु अनन्त के शाश्वत विधान में तो वह अंकित हो गयी। कन्हाई या कन्हाई के किसी अपने से लगकर किसी का अमंगल तो हुआ नहीं करता और कोई भावना उनसे लगे तो महामाया को भी उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। इस नियम को वे भी अस्वीकार तो कर नहीं सकतीं।

अब इससे क्या बनता-बिगड़ता है कि वे महामुनि अब महामुनि नहीं रहेंगे। वे ऐन्द्रिय प्राणी भी नहीं हो सकते। उन्हें अब पाषाण बनना है।

परिहास -

'अचानक उन मुनि महाराज को क्या हुआ?' भद्र चौंका। अब यह मत पूछिये कि कितने समय पीछे। क्योंकि जहाँ काल का प्रवेश ही नहीं है, वहाँ शीघ्र या देर की बात बनती नहीं। वहाँ केवल वर्तमान रहता है।

'तू उसका स्मरण करता है?' कन्हाई ने कुछ रोषपूर्वक उलाहने के स्वर में कहा। ठीक कहा; क्योंकि यह नीलसुन्दर समीप हो तो कोई दूसरे का स्मरण क्यों करे और यह समीप न हो तो इसके चिन्तन के अतिरिक्त अन्य स्मरण ही क्यों आवे?

'तू उनसे असन्तुष्ट क्यों है?' भद्र को अपने श्यामसुन्दर के स्वर से लगा कि इसे उन मुनि की चर्चा ही बुरी लगी है।

'उसकी बात मत कर! वह बहुत बुरा है।' कन्हाई झुंझला गया - 'उसने तुझे शाप दिया। हूँ!'

इस 'हूँ' का अर्थ भद्र जानता है। इसका अर्थ है - 'मैं देख लूँगा।'

'बेचारा मुनि' भद्र के चित्त में करुणा उमड़ पड़ी। यह कमललोचन कन्हाई अपनों का है। अब इससे उन मुनि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सुननेवाला नहीं। उलटे अधिक रुष्ट होगा। कोई अनजान में भी इसके अपनों का कुछ अहित सोचने लगे - कन्हाई रूठा धरा है और कन्हाई रूठ गया तो समष्टि में दूसरा कौन जो सन्तुष्ट बना रहेगा? कन्हाई रूठा तो योगमाया कुपित और जिस पर वे कुपित उस पर कृपा करने का साहस कोई देवता करेगा? अब उस बेचारे मुनि का जप-तप, साधन-भजन सब नगण्य हो गया।

'उसका शाप? कैसा शाप?' भद्र ने सचमुच अब तक ध्यान ही नहीं दिया था कि उसे कोई शाप भी दिया गया है। जब तक वह स्वयं इच्छा न करे, किसी का शाप उसका स्पर्श कैसे कर सकता है।

'तुझे शाप दिया उसने!' श्याम के मुख पर रोष की अरुणिमा है। इसका अर्थ ही है कि उस अभागे मुनिका पतन चल रहा है। वह कहीं किञ्चित् भी रुक नहीं पाता है।

'शाप? मुझे कहाँ लगा शाप?' भद्र ने इस प्रकार अपनी भुजा, पैर देखे जैसे शाप भी गौमय जैसा कुछ होगा और उसका कोई छींटा कहीं पड़ा हो तो उसे देख लेगा।

'ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करो! यह शाप उसने तुझे दिया।' कन्हाई का स्वर वैसा रोष भरा नहीं सही; किन्तु भरा भरा है - 'तूने भी झटपट स्वीकार कर लिया।'

'अरे!' भद्र तो खुलकर हँस पड़ा। उसका यह छोटा भाई इसलिए इतना रुष्ट है और रोने-रोने को हो रहा है? श्याम के दोनों कन्धों पर अपने दोनों हाथ रख दिये भद्र ने। कन्हाई को समझाना पड़ेगा और यह केवल स्नेह की भाषा समझता है।

'ऐन्द्रियक जीवन - मैं तुझे देख रहा हूँ, छू रहा हूँ, ले सूँघ रहा हूँ। तेरी बात सुन रहा हूँ - यही तो ऐन्द्रियक जीवन।' भद्र को तो सचमुच इसमें शाप जैसी कोई बात नहीं लगती है।

'लेकिन वह खूसट मन में यह लेकर शाप दे गया कि तुझे मर्त्यधरा पर ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करना है।' बड़ी कठिनाई से श्याम यह कह सका। इसके बड़े-बड़े नेत्रों से बिन्दु टपकने लगे।

'तो हो क्या गया?' विचित्र है भद्र भी। इसे इस शाप में भी कोई भय करने या चिन्ता करने जैसी बात नहीं लगती। भय और चिन्ता इसके स्वभावमें ही नहीं है। इसने झटपट समाधान ढूँढ़ लिया - 'बड़ा आनन्द आवेगा। अपना यह लोक तो नित्य है। यह तो कहीं जाता नहीं। मैं मर्त्यधरा पर ऐन्द्रियक जीवन में ऐसे ही तुझे स्नेह दूँगा। बस तू इसमें एक संशोधन कर दे।'

'हाँ' भद्र अपने पटुके से श्याम के नेत्र पोंछने में लगा था। उसका हाथ तनिक हटाकर कन्हाई हाँ करके उसके मुखकी ओर ऐसे देखने लगा जैसे कह रहा हो - 'तू बता तो सही। मैं एक तो क्या एक लाख संशोधन भी अभी किये देता हूँ।'

'मेरा केवल तू रहेगा वहाँ भी।' भद्र ने स्थिर गम्भीर स्वर में श्याम की ओर सीधे देखते कहा - 'दूसरे किसी को अपने-मेरे मध्य में नहीं आने देगा।'

'हूँ' कन्हाई ने अपने वाम-कर से अपनी घुंघराली सुचिक्कन अलकें टटोली - 'भाभियाँ मेरे सिर में एक भी केश नहीं रहने देंगीं।'

'तू उनसे समझते रहना।' भद्र अब खुलकर हँस पड़ा - 'उनमें जो तुझे स्नेह दे सके, तेरे नाते यदा-कदा मिलती रह सकती है। सदा सर्वत्र एकमात्र तू मेरा बना रहेगा।'

'कोई नया बना रहूँगा।' कन्हाई के भी अधरों पर अब स्मित आया - 'तू ना भी करे तो मैं तुझे छोड़कर जाऊंगा कहाँ? दाऊ दादा तो चाहे जब गुमसुम बैठ जाता है। मुझे फिर कौन सम्हालेगा?'

'फिर तू उन मुनि से इतना क्यों रुष्ट था?' भद्र ने फिर चर्चा की - ' उन्होंने तो परिहास किया है।'

'उसका नाम मत ले।' कन्हाई को उनकी चर्चा भी सुननी स्वीकार नहीं - 'ये दढ़ियल जटी परिहास क्या जानें!'

'परिहास तो है ही।' भद्र समझ गया कि कन्हाई से उन मुनि की चर्चा करना व्यर्थ है। अब उनको यहाँ लाना हो तो स्वयं ही लाना पड़ेगा और इसमें उनके शापको निमित्त बनाया जा सकता है।

पुनः परिहास-

अनेकता और एकता भी देश और काल की कृतियाँ हैं। कणों की अनेकता देश दिखलाता है और क्षणों का अनेकत्व काल की कल्पना है। जहाँ देश और काल ही कल्पित हो जाते हैं, उस दिव्य लोक में अनेकत्व एवं एकत्व का भी कुछ अर्थ नहीं है। वहाँ एक साथ प्रत्येक अनेक भी है और असंख्य होकर भी एक ही है। धरा का मानव वहाँ की कल्पना किसी प्रकार कर नहीं सकता। वहाँ जो कुछ है लीला है। देश, काल, वय आदि कोई बाधा वहाँ नहीं। एक साथ असंख्य लीला और सब एक की। सब पात्र-उपकरण एक और असंख्य भी। अतः घटनाओं-लीला का वर्णन करने में क्रम देना वहाँ सम्भव नहीं है।

भद्र के चौंकने की ही बारी थी इस समय। इसका यह नटखट सखा है ही ऐसा कि किसी को चौंकाकर ताली बजाकर कूद-कूदकर हँसता है। सहसा कहीं से विशाखा आयी और भद्र के पैर ही पकड़कर रोने लगी।

'लड़कियों के लिए रोना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। रुदन तो इनकी प्रकृति का आवश्यक अंग है।' आप भले भद्र से सहमत न हों; किन्तु यह कहता है कि 'लड़कियाँ रोवें नहीं तो इनका

आहार कदाचित ही पचे। अतः ये सकारण ही रोवें, ऐसा नहीं है। ये तो कल्पित कारण बनाकर भी रोती हैं और खूब फूटफूट कर रोती हैं।'

लड़कियों में कोई रोने लगे तो उधर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। उसे हँसा देने का मन हो तो आप भी वैसे ही रोने लगो। भले झूठ-मूठ को ही रुदन करो। लेकिन कोई बिना बात आपके ही पैर पकड़कर रोने लगे तो? भद्र को वैसे भी लड़कियों के रुदन से उपरति है और कोई उसका ही पैर या गला पकड़कर रोवे, इससे तो यह बहुत घबड़ाता है।

'अरी क्या हुआ?' भद्र ने अपना पैर छुड़ाने का प्रयत्न करते कहा - 'तुझे बन्दर ने डरा दिया या बिल्ली ने काट खाया? यह मेरा पैर है। इसे छोड़ और पैर ही पकड़कर रोने से तेरा आज का आहार पचनेवाला हो तो इस कन्हाई का पकड़। मैं तेरी पाचक औषधि बनने को प्रस्तुत नहीं हूँ।'

'मुझे चाहे जितना चिढ़ालो।' विशाखा ने तनिक मुख ऊपर उठाया और रोते-रोते ही बोली - 'लेकिन मेरी स्वामिनी पर दया करो।'

'कनूँ! बुरी बात है।' भद्र का मुख सहसा गम्भीर हो गया - 'तू उस भोली सरला को भी सताता है?'

'मैंने क्या किया है?' कन्हाई ने दोनों हाथों से पकड़कर विशाखा का सिर झकझोर दिया - 'तू मुझे ही डाँट लगवाने दौड़ी आयी है?'

'इन्होंने कुछ नहीं किया' दूसरा अवसर होता तो विशाखा कन्हाई को अंगूठा दिखा देती भद्र से छिपाकर; किन्तु इस समय यह बहुत व्याकुल है - 'अपराध मेरा है। मुझे शाप दो, यहाँ से निकाल दो। कुछ करो मेरा। मैं भाग्यहीना तो यमानुजा हूँ। जड़ जलरूपा हूँ। तुम दोनों ने कृपा करके अपना चरणाश्रय दिया और तुम्हारे इन सखा की कृपा से स्वामिनी की सेवा मिल गयी तो मैं भूल ही गयी कि मैं स्वभाव-निष्ठुरा हूँ। कृपा करना मेरा काम नहीं है। लेकिन स्वामिनी का रुदन मुझसे नहीं देखा जाता। तुम उन पर दया करो।'

'कहाँ हैं वे?' भद्र सचमुच व्याकुल हो उठा। सामान्यतः यह श्रीराधा के सम्मुख नहीं जाता है कि वे शीलमयी इसका बहुत सम्मान करती हैं। बहुत संकोच करती हैं। कन्हाई से दस महीने बड़ा क्या है, वे तो इसे दाऊ के समान ही मानती हैं। उनको

संकोच में डालना इसे अत्यन्त अप्रिय है। वे रुदन कर रही हैं, यह सम्वाद ही इसे असह्य है। श्री वृषभानु-नन्दिनी की आँखों में अश्रु- भद्र व्याकुल हो गया है।

'वे यहाँ नहीं हैं।' विशाखा ने अत्यन्त दीन स्वर में कहा - 'यहाँ आना भी स्वीकार नहीं करती हैं। शिवलोक के मार्ग में बैठी हैं और वहाँ से भगवती पार्वती के पास भी जाना नहीं चाहतीं।'

'शिवलोक के मार्ग में? भूत-प्रेतों की समीपता में और आक-धतूरे के वन के पास?' शिवलोक परम दिव्य सही; किन्तु श्रीकीर्तिकुमारी के कुछ क्षण भी रुकने योग्य कैसे हो सकता है। भद्र ने श्याम का हाथ पकड़ा - 'चल! ले आवें उस पागल लड़की को।'

'मैं चलूँ?' श्यामसुन्दर हिचक गया। विशाखा के मुख की ओर देखने लगा। यदि इसके जाने से बात बनने योग्य होती तो विशाखा भद्र के पैर पकड़कर नहीं रोती।

'इनको मत ले जाओ!' विशाखा ने फूट -फूटकर रुदन प्रारम्भ कर दिया - 'पहिले मुझे कोई भारी दण्ड दे दो। मैं क्षमा माँगने की अधिकारिणी नहीं हूँ।'

'भारी दण्ड तो गोकुल में मेरे पिताजी का है।' भद्र इस समय भी परिहास कर गया - 'मैं तो छोटा-सा लकुट रखता हूँ; किन्तु तू उनकी लाठी उठा पावेगी?'

'हँसी मत करो!'

'तू उठती है या तेरी चुटिया पकड़कर उठाना पड़ेगा।' भद्र झल्लाकर बोला - 'तेरी बात फिर सुन लूँगा। लली के समीप चल!'

'अच्छा चलो!' बहुत करुणस्वर में कहकर विशाखा उठी - 'मुझसे कहीं अधिक कातर होकर मेरी स्वामिनी वहाँ तुम्हारे पैर पकड़ लेंगी तो सहा जायगा तुमसे? इसलिए मेरी बात यहीं सुनलो। तुम दोनों सुनलो और इस पापिष्ठा को दण्ड दे लो तब वहाँ जाओ।'

'तूने क्या किया है?' भद्र खड़ा रह गया। यद्यपि उसका स्वर कह रहा था कि जो कुछ कहना है, झटपट कह दे।

'मैं भूल गयी कि यम-भगिनी को बहुत दयालु नहीं होना चाहिये।' विशाखा ने रोते-रोते ही कहा - 'मैं कृपामयी बनने चली थी। स्वामिनी की सेवा का अवसर दे दिया मैंने सुवर्चला को।'

'यह तो कोई अपराध नहीं है।' भद्र को लगा कि विशाखा कहीं कल्पित कारण से ही तो रुदन नहीं कर रही है और अपनी स्वामिनी का नाम लेकर उसे छकाने तो नहीं आयी है - 'श्रीकीर्तिकुमारी केवल कृपा का घनीभाव हैं। उनका सामीप्य जिनको प्राप्य है, उनमें किञ्चित् भी कृपा की न्यूनता उन करुणामयी की अवमानना ही होगी।

'कृपा की अनधिकारिणी को मैंने अपनी कृपापात्रा बना लिया।' विशाखा का रुदन रुक नहीं रहा था - 'मैंने देखा ही नहीं कि उसमें प्रीति नहीं, केवल पातिव्रत्य है और उसका अहंकार भी।'

'सुवर्चला का क्या हुआ?' भद्र को अब आशंका हो गयी। अवश्य इस लड़की के साथ कुछ हुआ लगता है। श्रीराधा की सब किंकरियों पर - अत्यन्त बहिर्व्यूह की दासियों तक पर भद्र का बहुत स्नेह है। यह सुवर्चला तो विशाखा की सेविका थी।

'उस कुतिया को भूकना था तो धरा कहाँ छोटी थी उसके लिए।' विशाखा के रुदन में रोष का स्वर सम्मिलित हुआ - 'वह वाणी वञ्चिता धरा पर धूम कर सकती है; किन्तु इस अभागिनी के कारण स्वामिनी मार्ग में बैठी हैं। रुदन कर रही हैं!'

'तूने शाप दिया सुवर्चला को? क्या किया था उसने?' भद्र ने आतुरतापूर्वक पूछा।

'मैं इतनी धृष्ठता करूंगी, ऐसी अधमा हो गयी तुम्हारी दृष्टि में?' विशाखा ने पैरों पर सिर पटक दिया - 'स्वामिनी के सम्मुख मैं ऐसा साहस करती? भगवती योगमाया कात्यायनी कहीं चली गयी हैं?'

'भगवती योगमाया' भद्र को उन महामुनि का स्मरण आ गया। उन्होंने भद्र को ऐन्द्रियक जीवन व्यतीत करने का शाप दिया और योगमाया ने विधान कर दिया कि उन मुनि से ऐन्द्रियक जीवन ही नहीं, ऐन्द्रियक चेतना भी छीन ली जाय। 'सुवर्चला ने किसी को शाप दिया?'

'जीजी को - हेमा जीजी को शाप दिया उसने। उन्हीं को क्यों, दूसरी जीजियों को भी शाप दिया और स्वयं चली गयी कुतिया बनने।' विशाखा को बहुत क्रोध था सुवर्चला पर।

'अच्छा परिहास है।' भद्र को तनिक भी बुरा नहीं लगा। 'क्या शाप दिया उसने?'

'मैं अपने जले मुख से उसकी आवृत्ति कर सकूंगी, यही आशा है तुम्हें मुझसे?' विशाखा का मुख बहुत दयनीय हो उठा - 'स्वर्णा जीजी सबके साथ स्वामिनी के समीप ही हैं। लेकिन आज स्वामिनी उनका अनुरोध भी स्वीकार नहीं कर रही हैं।'

'बहुत भोली है वह पगली।' भद्र अब चल पड़ा - 'उसे लगता होगा कि सुवर्चला का अपराध उसका अपना है। हेमा ने क्रोध किया?'

'उनको क्रोध शीघ्र आता तो है; किन्तु आया नहीं।' विशाखा ने रोते-रोते बतलाया - 'स्वर्णा जीजी हँस पड़ीं और फिर तो सब स्वामिनी को समझाने में लग गयी हैं।'

'शाप कब किस रूप में स्वीकार किया जाय, यह संशोधन तो लली ही कर देती।' भद्र को कुछ अटपटा नहीं लगता - 'कन्हाई भी कर देगा।' उस पगली को समझाना पड़ेगा। चिन्ता तो करनी पड़ेगी सुवर्चला की।'

आशीर्वाद-

'अनुरोध करने आया हूँ दादा!' सुबल दौड़ता आया और भद्र के गले में दोनों भुजाएं डालकर कन्धे पर सिर रखकर फूट पड़ा- 'इस विशाखा को बचाले। बहिन तेरे अतिरिक्त और किसी की बात नहीं मानेगी। अब वह इसे समीप भी नहीं देखना चाहेगी। तू जानता है, मुझे ये सब बहिन जैसी ही लगती हैं और बहिन इनमें-से एक को भी पृथक करके बहुत दु:खी हो जायगी।'

'तू बहुत भोला है। अपनी बहिन को भी नहीं समझता।' भद्र ने सुबल के नेत्र पोंछे - 'लली को रोष करना आता ही नहीं। वह केवल कृपा कर सकती है। किसी पर कठोर नहीं हो सकती।'

'स्वामिनी को मुख मैं कैसे दिखाऊँगी।' विशाखा फिर रोने लगी - 'मुझे कोई शाप क्यों नहीं देता है।'

'तू चुपचाप चली चल।' भद्र ने सुबल का हाथ पकड़ा - 'तू बतला कि हुआ क्या ?'

सुबल क्या बतला देता। उसे भी पूरा पता नहीं था। उसे तो यही पता था कि उसकी बहिन कैलास गयी थी और लौटते मार्ग

में रुक गयी हैं। विशाखा रोती भद्र के समीप गयी है तो उसीसे भद्र का कोई अपराध हुआ होगा। लेकिन भद्र का अपराध हुआ तो बहिन क्षमा कर नहीं सकती, यह सुबल भली प्रकार जानता है।

अच्छा हुआ कि थोड़ा आगे बढ़ आयी स्वर्णा इन सबों को आते देखकर। भद्र ने अपनी ज्येष्ठा पत्नी को देखते ही पूछा - 'स्वर्ण, क्या हुआ है?'

'तुम्हारी लली एक परिहास मात्र से अतिशय दुःखित हो रही हैं।' स्वर्णा के स्वर में सहजभाव था - 'तुम उन्हें सदन चलने को मनालो। दूसरा कुछ नहीं हुआ है।'

'सुवर्चला ने इतना बड़ा शाप दे दिया और कुछ हुआ ही नहीं?' विशाखा आश्चर्य से स्वर्णा को देखनें लगी - 'जीजी! तुम इसे परिहास कहती हो?

'कैसा शाप?' भद्र ने पत्नी से ही पूछा।

'हम सब कैलास से लौट रही थी तो सुवर्चला ने कह दिया - 'भगवती पार्वती ही वस्तुतः पतिव्रता हैं। दूसरी नारियों को उनकी कृपा से पातिव्रत प्राप्त होता है।' सुवर्चला अभी नवीन आयी -

आयी भी इस विशाखा की कृपा से। धरा पर वह दृढ़ पतिव्रता थी और भगवती उमा की नैष्ठिक आराधिका। अतः उसमें अभी श्रद्धा का आवेश था।'

'अम्बा आद्या का स्तवन कोई दोष तो है नहीं।' भद्र की श्रद्धा ही कहाँ उन जगद्धात्री के प्रति अल्प है।

'बहिन हेमा बोल पड़ी थीं कि नारी का सहज स्वभाव पातिव्रत है। वह विकृति को अपनाती है यदि इस स्वभाव से विचलित होती है। विकृति सकारण होती है, प्रकृति के लिए तो कोई कारण आवश्यक नहीं होता।'

'सुवर्चला का दुर्भाग्य - वह भड़क उठी। उसे इस बात में भगवती पार्वती की अवमानना का आभास हुआ होगा। उसने शाप दे दिया; किन्तु वह शाप तो परिहास जैसा है।' स्वर्णा को शाप महत्त्वहीन लगता था।

'क्या शाप दिया?' भद्र ने पत्नी से सीधे पूछा।

'तुम्हें अपने पातिव्रत का बड़ा गर्व है? मर्त्यधरा को धन्य करो। अन्त में भी अन्य से दो संतान उत्पन्न करके तब स्वामी को प्राप्त करना और वह भी अल्प सन्निधि उनकी।'

'मैंने बाधा दी।' स्वर्णा ने कहा - 'मुझ पर भी बरस पड़ी और बहिन कनका पर, शुभ्रा पर भी।'

'तुम्हें भी शाप मिला?' भद्र अब गम्भीर हो गया। हेमा तो तनिक चिड़चिड़ी है; किन्तु कोई स्वर्णा जैसी सौम्या, सदया को भी शाप दे सकती है?

'तू भी दूसरे के पास जाकर रह। उसी की सन्तान का पालन कर। स्वामी को पाकर भी दूसरे की बनकर रह।' स्वर्णा ने शाप सुना दिया; किन्तु उसके मुख पर कोई विषाद नहीं आया।

'बहिन कनका ने रोकना चाहा' स्वर्णा ने कहा - 'उसे भी कह दिया कि तू भी दूसरे की बनकर तब अपने स्वामी को पावेगी और शुभ्रा को भी। उसने तो हाथ हिला दिया - 'तुम सब!'

'क्या तात्पर्य?' भद्र का स्वर यह 'तुम सब' सुनकर उग्र हो उठा।

'तुम क्यों रुष्ट होते हो?' स्वर्णा बहुत सहज स्वर में बोली - 'उसका संकेत केवल हम चार के लिए था या पीछे खड़ी हिरण्या और काञ्चना के लिए भी, यह स्पष्ट नहीं हुआ।'

'ताम्रा और खर्वा के लिए?' भद्र सौम्य हो गया। उसने समझ लिया कि शाप केवल उसी की पत्नियों को दिया गया है। श्रीराधा और उनकी सखियों को शाप की आशंका से वह उग्र ही उठा था।

'वे दोनों तो साथ थी ही नहीं।' स्वर्णा ने बतलाया - 'वे शिवलोक नहीं गयी थीं; किन्तु बेचारी सुवर्चला पर अब तुमको कृपा करनी है।'

'जीजी! तुम अदभुत हो। तुम इस शाप को भी परिहास कहती हो?' विशाखा का आश्चर्य अब तक मिटा नहीं था।

'देवर के और इनके भी अनन्त रूप हैं।' स्वर्णा ने सस्मित कहा - 'ये और चार-छ: रूप बना लेंगे तो कुछ नहीं बिगड़ेगा इनका।'

'मैं भी प्रशप्त हूँ देवि!' अब भद्र हँस पड़ा - 'लेकिन देखती ही हो कि शाप का कोई छींटा मेरे अंग में कहीं नहीं लगा है। तुमको भी शाप ने कहीं स्पर्श किया दीखता नहीं। कोई शीघ्रता नहीं शाप को अभी स्वीकृति देने की।'

'तुमको किसने शाप दिया?' सुबल के नेत्र अरुण हो उठे।

'तुम क्यों रुष्ट होते हो?' भद्र ने सखा के कन्धे पर स्नेहपूर्वक कर रखा - 'एक मुनि महाराज थे। लेकिन कन्हाई ही उन पर रुष्ट हुआ बैठा है। उन्होंने भी परिहास ही किया है। केवल ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त धकरने को कहा।'

'अच्छा हुआ।' स्वर्णा अब सुप्रसन्न बोली - 'तुम हम चारों बहिनों को समेट लाना।'

'लेकिन लली क्यों मार्ग में यहाँ बैठी है?' भद्र ने पूछा।

'अब अपनी लली को तुम स्वयं समझाओ कि यह सब परिहास है।' स्वर्णा ने कहा - 'वे आज मेरी भी सुनती नहीं हैं। बार-बार मेरे पैर पर मस्तक पटकती हैं। मुझसे उनका यह भाव सहा नहीं जाता। उन्हें पता नहीं क्यों लगता है कि सब का सब अपराध

उन्हीं का है और कोई बहुत बड़ा अनर्थ हो गया है। वे तो अब देवर के सम्मुख जाने योग्य ही अपने को नहीं मानती हैं।'

'सुबल! बहुत भोली है तुम्हारी बहिन।' भद्र ने सखा को समझाना चाहा - 'तुम उसे समझालो।' कहीं कोई अपराध नहीं हुआ। केवल उन मुनि महाराजकी चिन्ता थी मुझे और अब देखता हूँ कि सुवर्चला को भी मुझे ही सम्हालना पड़ेगा।'

'सच, सम्हाल लेना उस बेचारी को।' स्वर्णा अत्यन्त दया एवं आग्रहपूर्वक बोली - 'वह कहीं की नहीं रही। हम तो तुम्हारी हैं। भगवती महामाया हमारी सदा रक्षिका रहेंगी। किसी का कोई शाप हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता; किन्तु भगवती कात्यायनी को क्रुद्ध कर दिया उसने हम सबको शाप देकर। देवर या श्रीकीर्तिकुमारी उसकी कोई पुकार नहीं सुनेंगी। अब केवल तुम उसको यहाँ ला सकते हो।'

'तुम लाना चाहती हो, अतः उसे लाना तो पड़ेगा ही।' भद्र ने आश्वासन दे दिया - 'उसे लली स्वीकार भी कर लेगी। केवल अब मर्त्यधरा के काल का प्रश्न है।'

'जीजी!' अचानक विशाखा गिर पड़ी स्वर्णा के चरणों पर - 'इस अधमा पर भी कृपा करो। इतनी क्षमा, इतनी करुणा स्वामिनी के अतिरिक्त तुम्हीं कर सकती हो।'

'तुझे क्या हो गया है?' स्वर्णा ने झुककर उठाना चाहा विशाखा को; किन्तु वह पैर पकड़े झुकी रही।

'मैं तुम्हारे ये चरण तब तक नहीं छोड़ूंगी जब तक मुझे क्षमा करके आशीर्वाद नहीं दे दोगी।' विशाखा हिचकियाँ ले रही थी।

'अच्छा, तुझे क्षमा किया। बिना किसी अपराध के क्षमा किया।' स्वर्णा ने हँसते हुए उसके सिर पर हाथ रखा - 'आशीर्वाद देती हूँ कि देवर तुझे बहुत-बहुत प्यार करें।'

'हंसी मत करो जीजी!' विशाखा अत्यन्त कातर स्वर में बोली - 'आशीर्वाद दो कि स्वामिनी अपनी सेवा में इसे लिये रहें।'

'तू कीर्तिनन्दिनी की सदा अनुग्रह-भाजना बनी रह!' स्वर्णा ने स्वस्थ स्वर में सचमुच आशीर्वाद दे दिया।

'आज कृतार्थ कर दिया तुमने जीजी!' विशाखा ने आञ्चल करों में लेकर फिर स्वर्णा के पदों पर सिर रखा और उठकर खड़ी हो गयी। मैं आश्वस्त हो गयी। अब स्वामिनी के समीप मेरे अपराध की बात सोचना भी अपराध हो गया।

'चलो, एक को तो तुमने आश्वस्त कर दिया।' भद्र ने पत्नी की ओर देखा।

'लेकिन अपनी लली को तुम्हीं आश्वस्त कर सकते हो।' स्वर्णा हँसकर बोली - 'वे इस समय देवर की भी सुनने वाली नहीं हैं।'

'भाभी ठीक कहती हैं दादा!' सुबल बोला - 'बहिन को मैं नहीं समझा सकता; किन्तु तेरी बात वह टाल सकती ही नहीं।'

'मुझे ही चलना पड़ेगा!' भद्र श्रीराधा के समीप कम ही जाना चाहता है; किन्तु आज तो विवशता है।

शाप सुधार-

'आपकी लली आपसे अनुरोध करती है' भद्र को बहुत अटपटा लगता है, बहुत अखरता है कि वह पहुँचे तो श्रीवृषभानु-नन्दिनी भूमि में मस्तक रखकर, उसे प्रणाम करती हैं और संकोच से सिकुड़ जाती हैं। कुछ कहना ही हो तो उनकी ओर से ललिता को ही कहना पड़ता है। आज भी ललिता ही बोली - 'आप क्षमा कर दीजिये और कोई नाम मत लीजिये। उस अपराधिनी का नाम सुनना भी इन्हें सह्य नहीं है।'

'कनूँ भी यही कहता था।' भद्र गम्भीर हो गया। अन्ततः कन्हाई और श्रीराधा दो तो नहीं हैं कि इनके स्वभाव दो होंगे। 'लेकिन क्षमा माँगकर लली मुझे पराया बतावें, यह उचित नहीं है। एक साधारण परिहास में क्षमा का प्रयोजन? मैं अभी शाप में सुधार करता हूँ। लली उसको स्वीकृति देंगी। मैं किसी को यहाँ तुम्हारे समुदाय में भेजूँ तो मुझ पर तो तुम सब प्रतिबन्ध नहीं लगाओगी?'

'अब अत्याचार तो मत करो।' श्रीराधा ने पुनः भूमि पर मस्तक रखा तो ललिता ने हाथ जोड़े - 'तुम पर प्रतिबन्ध लगाने का साहस जो करेगी, उसे भगवती योगमाया क्षमा करेंगी?'

'तब तुम सब यहाँ क्यों बेठी हो?' भद्र ने आदेश के स्वर में कहा - 'उठो और अपने निकुञ्ज को सुशोभित करो। कन्हाई अनन्त काल तक गोचारण करता रह सकता है; किन्तु बेचारी बालिकाएं कब तक इस प्रकार मार्ग में निर्वासिता-प्राय रहेंगी।'

'आपकी ये लली साहस नहीं कर पाती हैं आपके अनुज के सम्मुख जाने का।' ललिता ने बहुत विनम्र बनकर विनय की - 'वे इस समय किसी को भी कुछ कह दे सकते हैं। न भी कहें तो जीजी स्वर्णा और उनकी बहिनें यहाँ न हों तो आपकी लली निकुञ्ज में प्रवेश कर पावेंगी? विशाखा के बिना क्या निकुञ्ज शोभा पावेगा?'

'विशाखा को तो स्वर्णा ने आशीर्वाद दे दिया है कि वह अपनी स्वामिनी की सदा अनुग्रह-भाजना बनी रहे।' भद्र का वाक्य पूरा होते ही श्रीकीर्तिकुमारी अचानक उठीं और स्वर्णा के पदों पर मस्तक रख कर उसके दोनों चरण उन्होंने भुजाओं मे बाँध लिये।

'देवर तुमसे अनन्त प्यार करें।' स्वर्णा ने उनके सिरपर भी हाथ रखकर आशीर्वाद दे दिया और बलपूर्वक उठाकर हृदय से लगा लिया।

'कोई कहीं जा नहीं रही है।' भद्र ने लौटते-लौटते कहा - 'मेरा आदेश तुममें कोई नहीं टालेगा। अभी इसी क्षण यहाँ से चल दो और अपने धाम पहुँचो। कन्हाई कुछ न सोचेगा, न करेगा।'

'आदेश तो अनुल्लंघनीय है।' श्रीकीर्तिकुमारी मन्द पदोंसे चल पड़ीं, तब ललिता ने ही कहा - 'लेकिन कोई कहीं नहीं जायेगी उस शाप के रहते? आप उसे निरस्त कर रहे हैं?'

'गोलोक पहुँचने का जिसे अधिकार किसी प्रकार मिल गया, उसका शाप निरस्त कर दिया जाय तो लोककी मर्यादा ही नष्ट हो जायगी। शाप गोलोक से बाहर दिया गया, इसका तो महत्त्व नहीं है। लेकिन भद्र यदि शाप को निरस्त करता है तो बाधा डालने की शक्ति भी तो किसी में कहीं नहीं है।'

'मैं उसमें संशोधन करता हूँ।' भद्र ने गम्भीर स्वर में कहा - 'लली उसको स्वीकृति देगी।'

'आपकी आज्ञानुवर्तिनी हैं आपकी लली।' ललिता प्रसन्न हो गयी - 'स्वीकृति तो उसे तभी भगवती योगमाया दे चुकी जब आपने संकल्प किया। हम तो सुन लेने को समुत्सुक हैं।'

'समस्त सृष्टि यहाँ की प्रतिबिम्ब भूता ही तो है।' भद्र ने स्पष्ट किया - 'एक-एक और प्रतिबिम्ब पड़ जायँगे मर्त्यधरा पर शाप को सार्थक करने के लिए। यहाँ से कोई नहीं जायगी।'

श्रीराधा पुनः स्वर्णा के चरणों में पड़ गयी होतीं, यदि उसने उनको अंक में न समेट लिया होता।

'लेकिन शुभ्रा जीजी?' ललिता ने पुन: शंका की - 'उस अमंगला ने कह दिया था कि ये यहाँ फिर नहीं आ सकेगी।'

'यहाँ से बाहर कहीं कुछ है? असम्भव शाप की सार्थकता कभी हुई है?' भद्र हँस पड़ा - 'अवश्य शुभ्रा अब इस रूप में तुम्हें यहाँ नहीं मिलेगी; किन्तु वह साकेत में वहाँ की अधीश्वरी अम्बा की पुत्रवधू बनकर रहे, इसमें तो कोई बाधा नहीं है।'

'तुम यहाँ नहीं रहोगे तो तुम्हारे अनुज सुप्रसन्न रह सकेंगे?' ललिता को यह शाप-सुधार प्रिय नहीं लगा था।

'मैं कहाँ जा रहा हूँ।' भद्र ने हँसकर कह दिया - 'एक रूप से मैं साकेत में अम्बा का स्नेह प्राप्त करता रहूँ, इसमें तुझे क्यों ईर्ष्या होती है? एक रुप से मुझे मर्त्यधरा पर भी जाना है।'

'तुम्हें जाना है मर्त्यधरा पर?' ललिता चौंकी।

'एक मुनि महाराज मुझे ये आशीर्वाद दे गये हैं।' भद्र ने कहा - 'अब कन्हाई उनकी चर्चा ही सुनने को प्रस्तुत नहीं। अन्ततः उनको अनन्तकाल तक पाषाण ही तो नहीं रहने दिया जा सकता। यहाँ लली को भी एक की चर्चा सुननी स्वीकार नहीं। जो एक बार कैसे भी इनके चरणों तक पहुँच गयी, उसे भटकने तो नहीं ही दिया जा सकता। मेरी इन सहधर्मिणियों के जो प्रतिबिम्ब वहाँ प्रकट होंगे, उनको समेटने का कार्य कौन करेगा?'

'इस बार अवतार लेकर तुम धरा को धन्य करोगे?' ललिता खड़ी रह गयी।

'यह सनक मुझे नहीं है।' भद्र खुलकर हँस पड़ा। 'यह सब करना होगा तो दाऊ दादा कभी जायगा या कन्हाई करेगा। मैं तो केवल अपनों को समेटूँगा और धूम करूँगा। समस्याएँ उत्पन्न करता रहूँगा। उन्हें कन्हाई को सुलझाते रहना पड़ेगा।'

'तुम जाओगे तो तुम्हारे अनुज यहाँ नहीं रहेंगे।' ललिता भाव-विह्वल बोल पड़ी - 'तब तुम्हारी लली यहाँ रहेंगी? हम सब यहाँ रहकर क्या सिर धुनेंगी?'

'कह तो दिया कि कोई कहीं नहीं जा रहा है।' भद्र ने झिड़की दी - 'लड़कियों को तो रोने-मचलने का कोई बहाना चाहिये। अनन्त काल से प्रतिबिम्ब ही सृष्टि की प्रतीति करा रहे हैं। एक और प्रतिबिम्ब वहाँ प्रकट हो जायगा और कन्हाई को तो वहाँ जाना नहीं है। कभी कदाचित उससे न रहा जाय तो अल्प क्षण को प्रकट हो लेगा; क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब भी सच्चिदानन्द ही होता है।'

'तुम सब अब शीघ्रता करो! अपने सदन पहुँचो।' भद्र ने चौंककर कहा - 'लगता है भगवान् आशुतोष पधार रहे हैं। उनके वृषभ के कण्ठ के घण्टे का प्रणवनाद गूंजने लगा है।'

'तुम्हारे अनुज भी आ ही रहे होंगे।' ललिता ने प्रणाम करने के निमित्त अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया।

इन भाव लोकों में आना-जाना तो केवल शब्द व्यवहार है। सब दिव्यलोक समस्त दिक् में सर्वव्यापक हैं। आविर्भाव-तिरोभाव ही होता है वहाँ। वृषभारूढ़ भगवान् धूर्जटि को प्रकट ही होना था।

पुनः शाप-

'अच्छा, तुम मेरे पेट का परिहास करते हो मनुष्यों के समान!' भगवान शिव के साथ नन्दीश्वर के अतिरिक्त केवल एक गण आया था। कोई कूष्माण्ड था। नन्दीश्वर ने गणों को निषेध कर दिया था। गोलोक में भला भूत-प्रेत प्रवेश कर सकते हैं; किन्तु यह एक पीछे लगा लुढ़कता चला आया था। बहुत उत्कण्ठा थी इसे गोलोक देखने की। शिवलोक भी अभी शीघ्र ही मिला था इसे। महाभैरव का ही सेवक था। नन्दीश्वर के निषेध को महत्वपूर्ण नहीं माना इसने।

भगवान् विश्वनाथ का महावृषभ गोलोक के सम्मुख रुका तो उत्साह में यह कूष्माण्ड पीछे से आगे लुढ़क आया। कोई बहुत बड़े गज के बराबर कद्दू लुढ़कता चले तो आपको कैसा लगेगा। बाबा के गणों में भूत, प्रेत, पिशाचों के ही वर्ग में कूष्माण्ड होते हैं। इनकी आकृति कद्दू के समान। सिर, हाथ, पैर होते तो हैं; किन्तु ऐसे कि ध्यान से देखने पर ही दीखें। शरीर में केवल तोंद और ये गोल-मटोल लुढ़कते ही चलते हैं। अवश्य ये मानसिक सृष्टि के हैं। भूतनी, चुड़ेल (प्रेतनी), पिशाचिनी, यक्षिणी तो होती हैं; किन्तु कूष्माण्ड वर्ण में नारी नहीं। ये आजीवन ब्रह्मचारी बहुत क्रोधी

होते हैं। या तो किसी का अनिष्ट करेंगे ही नहीं, अथवा उसका समूल वंश नाश कर देंगे।

कूष्माण्ड स्वभाव से कुतूहली होते हैं। कहीं अचानक प्रकट होकर लोगों को अकारण डरा देना ओर लुढ़कते चले जाना इन्हें प्रिय है।

यह कूष्माण्ड पीछे से लुढ़कता महावृषभ के आगे बढ़ता ही जा रहा था। नन्दी इसे वारित करते, इससे पूर्व ही भद्र दौड़ता आया। यह बहुत भारी लुढ़कता कद्दू इसे विचित्र लगा। अपने दाहिने हाथ की चारों अँगुलियाँ इसके गोल शरीर में चुभाकर हंस पड़ा।

'तुमने मेरे पेट में चार अंगुलियाँ चुभायी हैं, अतः चार युग - पूरे मन्वन्तर पर्यन्त मर्त्यधरा पर रहो!' कूष्माण्ड ने शाप दिया।

'चल गिर नीचे!' नन्दीश्वर के नेत्र अरुण हो गये। उन्होंने हाथ का संकेत किया और कूष्माण्ड ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे वहाँ कभी था ही नहीं।

'आप मुझे क्षमा करें।' नन्दीश्वर भद्र के सम्मुख हाथ जोड़कर कुछ कहते; किन्तु कन्हाई के चपल सखा इसका कहाँ किसी को अवसर देते हैं। भद्र तब तक तो भगवान् चन्द्रमौलि के श्रीचरणों तक पहुँच चुका था।

'तुम आ गये!' भगवान गंगाधर अपने महावृषभ से लगभग कूद पड़े थे। चरणों में प्रणत होते भद्र को चारों भुजाओं से समेटकर उन्होंने अंक में ही उठा लिया।

'बाबा!' भद्र ने उन नीलकण्ठ के श्रीमुख की ओर देखते केवल इतना कहा और उनके कण्ठ में भुजाएँ डाल दीं।

जो मृत्युञ्जय के अंक में पहुँच गया, उसको उनके आभरण बने कालभुजंग का भला भय क्या। अब तो बाबा के कण्ठ, भुजा आदि के आभूषण बने सांप उसे केवल स्नेह से सहला सकते हैं। यह गोलोक-बिहारी के सखा का स्पर्श ऐसा उपेक्षणीय तो नहीं कि कोई इस सौभाग्य का अवसर चूक जाय। अतः मस्तक की जटाओं में लिपटा नाग भी नीचे सरककर सिर बढ़ाकर भद्र की अलक सहलाने लगा है।

'आप यहीं रुक गये!' कन्हाई दौड़ा आया। सहस्त्र-सहस्त्र बालक दौड़े आये। भगवान् विश्वनाथ के श्रीचरणों में अलौकिक पुष्पों की अञ्जलि अर्पित करके सबने साष्टांग प्रणिपात किया। उठकर श्यामसुन्दर ने प्रार्थना की - 'पधारें और हमें अर्चा का सौभाग्य प्रदान करें।'

'तुम मुझे क्षमा कर दो!' अब कहीं वे नीलकण्ठ प्रभु बोल सके। इनका रोम-रोम उत्थित, नयनों से अश्रुधारा चलती और सम्पूर्ण गात्र कम्पायमान। भद्र को अंक में ही लिये अब तक स्तब्ध खड़े रह गये थे। अब भी स्वर गद्गद था - 'तुम्हारे सखा को एक अज्ञ गण ने शाप दे दिया।'

'मुझे तो इर्ष्या हो रही है इसके सौभाग्य पर!' कन्हाई भी भद्र को ही देख रहा था - 'यह हम सबका यूथनायक तो था ही, अब आपके अंक का अधिकारी हो गया। अम्बा आद्या इसे पहिले ही अपना पुत्र मानती हैं और साकेत का भी यह युवराज बन गया है।'

'बाबा! यहाँ कोई किसी को शाप तो दे ही नहीं सकता।' भद्र अब धीरे से अंक से उतरा और भगवान् आशुतोष का दक्षिण कर पकड़कर उनके श्रीअंग से सटकर खड़ा हो गया था। जैसे बाबा पर कन्हाई से अधिक स्वत्व है उसका - 'यहाँ कोई शाप देने का मन

भी करता है तो अम्बा आद्या उसकी वाणी को वरदान बना देती हैं।'

'तुम उचित कहते हो!' भगवान् भोलेनाथ अत्यन्त गम्भीर हो गये। उन्होंने दक्षिण भुजा उठाकर घोषणा की - 'मैं मर्यादा बनाता हूँ कि इन दिव्यलोकों में कोई किसी को शाप नहीं दे सकेगा और देगा तो उसे स्वयं भोगना होगा।'

'शाप देने वाला तो अब भी भाग्यहीन ही बना।' भद्र बहुत नम्रता से बोला - 'बाबा! उस अभागे गण को.......।'

'वत्स! मेरा एक अनुरोध मान लो।' भद्र को रोककर बीच में ही भगवान् डमरूपाणि बोले - 'उसकी चर्चा भी मुझे अत्यन्त अप्रिय है। उसका स्मरण न तुम करो और न मुझे कराओ।'

'आप भी कन्हाई जैसे ही हैं बाबा!' भद्र भरित कण्ठ बोला - 'आप आज्ञा दे सकते हैं। अनुरोध तो मैं करता हूँ कि अनन्त करुणा-वरुणालय प्रभु मुझे तो किसी पर कृपा करने को स्वतन्त्र रहने दें और यदि मैं किसी को इन चारु चरणोंमें भेजना चाहूँ तो ....।'

'वह सदा मेरा प्रिय रहेगा।' भगवान विश्वनाथ ने भद्र को फिर अंक में उठा लिया - 'तुम जिसे मेरे यहाँ, गोलोक या साकेत भेजने की इच्छा भी करोगे, उसके स्वागत को हम तीनों समुत्सुक बने रहेंगे। मेरे यहाँ नन्दीश्वर भी उसका शासन नहीं कर सकेंगे।'

'आपकी आज्ञा मेरे लिए तो सदा अनुल्लंघनीय है।' कन्हाई ने अञ्जलि बाँध ली; क्योंकि भगवान वृषभध्वज की दृष्टि कहती थी कि वे अपने आशीर्वाद का व्रजराजकुमार से अनुमोदन चाहते हैं।

'तुम इन सब शापों को अस्वीकार कर देने में समर्थ हो, स्वतन्त्र हो।' अब उन महेश्वर ने भद्र की ठुड्ढी में दक्षिण कर स्नेहपूर्वक लगाकर उसका मुख तनिक ऊपर उठाया और उसका सिर सूंघ लिया।

'मैं आपका स्नेह भाजन, आपका - आप अमृत स्वरूप का पुत्र' भद्र ने सहास्य कहा - 'कोई शाप मेरा क्या बिगाड़ेगा। महाकाल के प्रिय पुत्र को प्रपीड़ित करना तो दूर, उसे खिझाने का साहस किसी में आ कैसे सकता है। ये शाप तो मेरा - मेरे एक प्रतिबिम्ब का विनोद बनेंगे।'

'तुम अपने इन नीलसुन्दर सखा से अभिन्न हो, अतः इनके समान ही तुम्हारी करुणा भी असीम अतर्क्य है।' भगवान् धूर्जटि का स्वर आर्द्र हो उठा - 'अब तुम्हें अपना ही अहित करने वालों के उद्धार की चिन्ता हो उठी है। इसे मैं भी कैसे वारित कर सकता हूँ। तुम्हारी कृपा के अतिरिक्त तो अब उनका कहीं कोई आश्रय रहा नहीं।'

'लेकिन बाबा! लोकालय में भी तुम कन्हाई के समान ही मेरे अपने रहोगे। मुझे अपना करावलम्बन देते रहोगे।' अब भद्र ने अंक से उतरकर अञ्जलियाँ बाँधी - 'मैं जब पुकारूँगा, तुम समाधि में नहीं बैठे रहोगे।'

'एवमस्तु!' चन्द्रमौलि प्रभु से दूसरा कुछ सुनने की तो आशा कभी कोई करता नहीं। उनका स्वभाव है कि उनसे कुछ कहा जाय तो उनके श्रीमुख से स्वत: 'एवमस्तु' निकल पड़ता है। लेकिन उन्होंने भद्र का पुन: हाथ पकड़ा - 'तुम्हें यह कहने की आवश्यकता थी? शिव तमोगुण का अधिष्ठाता सही; किन्तु ऐसी जड़ समाधि तो कभी नहीं लगाता जो तुम्हारी पुकार से भी भग्न न होती हो।'

'बाबा! आप तो यहीं खड़े रह गये।' कन्हाई ने उलाहना दिया - 'हम सभी अर्चा करने को उत्सुक हैं।'

'उचित तो यह था कि मुझे तुम्हारे इस दिव्यधाम में प्रवेश का अनधिकारी मान लिया जाता।' भगवान कृत्तिवास का कण्ठ फिर भर आया - 'तुम्हारे जनों का अपराध करके यह प्रलयंकर भी सकुशल नहीं रहता - यह मर्यादा स्थापित होनी चाहिये थी; किन्तु तुम और तुम्हारे सखा कृपा के ही घनीभाव हैं। तुम्हारी इच्छा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।'

'शिवहर शंकर गौरीशं,
वन्दे गंगाधरमीशम्।
रूद्रं पशुपतिमीशानं,
कलये काशीपुरिनाथम्॥'

भगवान वृषभध्वज तो आगे पैदल ही जाना चाहते थे; किन्तु श्याम ने उन्हें वृषभारूढ़ होने को बाध्य करा दिया। नन्दीश्वर जब द्वारपर ठिठकने लगे, कन्हाई ने उनको भी आगे बढ़ने को बाध्य किया - 'आप अपनी अर्चा से हमें क्यों वंचित करना चाहते हैं? जानते तो हैं कि महेश्वर के सेवक मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मैं उनका भी अर्चक ही हूँ।'

'आप और ये मेरे प्रभु दो नहीं हैं, दया करके मेरी यह बुद्धि सदा बनी रहने दीजिये।' नन्दीश्वर ने दोनों हाथ जोड़े - 'अन्यथा आपकी माया भगवती की महिमा का पार नहीं है। आप अत्यन्त लीला-निपुण और आपकी माया अगम्य। अत: मुझ पर अनुग्रह करें। प्रणतपाल! मैं आपकी शरण हूँ, पाहि!'

'एवमस्तु!' कन्हाई ने भगवान् शंकर के समान ही गम्भीरता से कहा तो सब सखा ताली बजाकर हँस पड़े।

'मैं तुमसे बड़ा हो गया!' भद्र ने धीरे से कन्हाई का हाथ दबाया - 'अब तो मानेगा?'

'दादा! तू बड़ा तो सदा से है।' भगवान् शशांक-शेखर की सन्निधि में श्यामसुन्दर इस समय गम्भीर बन गया है - 'मैया कहती है कि तू मुझसे दस महीने बड़ा है और साकेत के युवराज एवं साम्बशिव के मुँह बोले कुमार को छोटा कहने की धृष्ठता भला मैं कैसे करूँगा।'

'अब तुम अपने लोक में मेरे गण को भी ले आये।' भगवान् शिव को नन्दीश्वर को भी साथ ले आना अच्छा नहीं लगा था।

'हम सब भी तो आपके ही गण हैं।' कन्हाई ने अञ्जलि बाँधी - 'अपनों में से ही एक अग्रणी का सत्कार करने का अवसर तो आज मिलेगा मुझे।'

नन्दीश्वर भाव-विह्वल हो रहे थे और भगवान् शिव भी मौन रह गये। उन्होंने देखा कि वे कुछ कहेंगे तो ये मयूर-मुकुटी ऐसी ही अटपटी बातें करते रहेंगे।

शापों का विवेचन-

'अन्ततः ये शाप होते ही क्यों हैं?' भद्र का प्रश्न उचित नहीं है, ऐसा कोई कह नहीं सकता। गोलोक, साकेतादि में सर्वथा निर्मुक्त कल्मष, अहंकारहीन प्राणी पहुँचता है। प्राकृत अन्त:करण भी उसमें नहीं होता। उसका शरीर, मन, बुद्धि सबका सब तो प्राकृत जगत में छूट चुका। वह दिव्य देह प्राप्त करके ही आने में समर्थ हुआ। अब उसमें अपना तो कुछ रहा नहीं। तब उसमें पूर्व-संस्कार, पूर्वाभ्यास का प्रसंग कैसा? तब उसमें अभिमान, रोष क्यों आता है? वह क्यों शाप देता है?

भद्र ने नहीं पूछा; किन्तु प्रश्न तो है ही कि माया-मण्डल से सर्वथा परे इन दिव्य भगवद् धामों में पहुँच कर किसी का भी पतन क्यों? यहाँ से भी यदि कोई जन्म-मरण के चक्र में लौटता है तो भक्ति का, इन दिव्यधामों का ही क्या प्रभाव? ये भी ब्रह्मलोक के सम्नान पुनरावर्ती ही हुए। सब न सही, कोई तो यहाँ से भी लौटता ही है। ब्रह्मलोक से भी सब तो नहीं लौटते। बहुत-से निर्मुक्त-कल्मष वहाँ से भी ब्रह्मा के साथ निर्वाण पद प्राप्त ही कर लेते हैं।

भगवान् नीलकण्ठ की अर्चा हो चुकी थी। गोपबालक श्रीकृष्णचन्द्र के साथ उन आशुतोष के समीप आज सहज

चापल्य त्यागकर शान्त बैठे थे। भद्र को तो उन त्रिलोचन ने अंक में ही बैठा लिया था।

भद्र ने ही प्रश्न किया। उसे यही समझ में नहीं आता कि भगवती योगमाया इन धामों में शाप देने का सुयोग ही किसी को क्यों देती हैं। शाप असम्भव बना दिया जाना चाहिये यहाँ।

'तुम्हारे ये अनुज बहुत चपल हैं।' कन्हाई की ओर भगवान् शंकर ने संकेत किया तो सब बालक इसे देखकर मुस्कराये। श्याम ने सिर झुका लिया। अब इन महेश्वर के सम्मुख प्रतिवाद तो किया नहीं जा सकता। सदाशिव ने कहा - 'इनसे शान्त तो बैठा नहीं जाता। यह तो मेरे संकोच से इस समय ऐसे बेठे हैं। इन्हें लीला करनी होती है तो भगवती योगमाया अशक्यको भी शक्य बना देती हैं।'

भगवती योगमाया अघटन घटना पटीयसी हैं यह सब जानते हैं। कन्हाई बहुत नटखट है, ऊधमी है, यह भी सबको पता है?

'यह इसी का उत्पात होता है?' भद्र ने श्याम की ओर देखा और हँस पड़ा। इस सुकुमार को उलाहना नहीं दिया जा सकता।

'तुम जानते हो कि माया के क्षेत्र में जो अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उनमें तुम्हारे लोक के ही प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। माया और माया की विकृति अहंकारादि के कारण उन प्रतिबिम्बों में अपना पृथक अस्तित्व-बोध, कर्तृत्वाभिमान आता है। तब कर्मचक्र चल पड़ता है।' भगवान् भूतनाथ ने समझाया - 'किन्तु कर्मचक्र तो है ही दुःखनिलय। उसमें पड़ा प्राणी इन आनन्दघन से विमुख होकर अतिशय कातर हो जाता है। तब इन लीलामय को उस पर दया आती है। उसके उद्धार के लिए ये कोई-न-कोई बहाना बनाते हैं।'

'ओह! तो अपना यह कन्हाई नटखटपन भी जीवों पर अतिशय दया करके ही दिखलाता है।' भद्र ने बड़े स्नेह, अपनत्व से अनुज की ओर देखा। उसे भगवान् शिव ने दो भुजाओं से पकड़ न रखा होता तो कूदकर अपने कनूँ को हृदय से लगा लेता।

'तुम्हारा यह लोक तो आनन्द का घनीभाव है।' ज्ञानियों के परमगुरु प्रभु समझा रहे थे - 'यहाँ ज्ञान को भगवती योगमाया प्रसुप्त रखती हैं। ऐसा न हो तो लीला ही नहीं चले। इन सगुण-साकार लोकों में और इनसे परे भी एक अखण्ड, अद्वितीय सत्ता है, वह ज्ञान है। निर्विकार, निर्विशेष ज्ञान। उस ब्रह्म के ही ये घनीभाव श्यामसुन्दर और इनसे अभिन्न तुम सब।'

सबको ही यह स्तवन जैसा लगा। भद्र ने कह दिया - 'बाबा, आप तो अपनी बात हम सबका और कन्हाई का नाम लेकर करने लगे।'

'तुम्हारे लोक से बाहर, माया की एक पाद विभूति में जो अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वे प्रतिबिम्ब हैं इन दिव्य लोकों के। स्वप्न के समान वे लोक।' भगवान् भवानीनाथ की बात आगे बढ़ी - 'उनमें तुम्हारा आनन्द सत्वगुण बन जाता है। ज्ञान वहाँ रजोगुण होकर क्रियाशील रहता है और सत्ता वहाँ तमोगुण होकर सघन हो जाती है, स्थूलता प्राप्त कर लेती है।'

'आप तो शाप को समझा रहे थे।' भद्र को यह गम्भीर चर्चा बहुत आकर्षक नहीं लगी।

'वही समझा रहा हूँ।' भगवान शिव ने तत्त्वविवेचन संक्षिप्त किया - 'तुम्हें या तुम्हारे प्रतिबिम्ब को जब मर्त्यधरा पर प्रकट होना है तो वहाँ त्रिगुणों को स्वीकार करना ही है। अत: तुम्हें तीन शाप तीन प्रकार के व्यक्तियों से तीन ढंग से प्राप्त हुए।'

'अच्छा!' भद्र ही नहीं, सब उत्सुक हो उठे। केवल कन्हाई सिर झुकाये रहा।

'वह मुनि था। आने से पूर्व मर्त्यलोक में विशुद्ध सत्व से एक हो चुका था। उसने तुम्हें ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करने की कहा।' भगवान शिव ने स्पष्ट कर दिया - 'सृष्टि में तो आनन्द की उपलब्धि ऐन्द्रियक भोगों के माध्यम से ही सम्भव है। तुम स्वयं ऐन्द्रियक जीवन न प्राप्त करो तो लोकालय में जीवों को अपने इस गोविन्द को प्रत्यक्ष करने का पथ, इसकी लीलाएँ कैसे समझा सकते हो?'

'लेकिन वह मुनि तो पाषाण बन गये!' भद्र की शंका ठीक है। सत्वगुणी मुनि को अत्यन्त तामस योनि क्यों मिलनी चाहिये?

'कर्मलोक में प्राणियों को आराधना का आधार देने के लिए अर्चा-विग्रह आवश्यक होते हैं।' भगवान चन्द्रचूड़ को आगे व्याख्या नहीं करनी पड़ी। अर्चा-विग्रह सामान्य धातु-पाषाण नहीं बन सकता। कोई दिव्य, विशुद्ध सत्व न बने तो स्वयं श्याम को वह रूप लेने को विवश होना पड़ता है। मुनि पाषाण होकर भी कन्हाई से वहाँ भी अभिन्न हैं, यह सन्तोष हुआ भद्र को।

'दूसरा शाप सीधे तुम्हें नहीं है।' सर्वज्ञ शशांकशेखर से छिपा क्या रह सकता था - 'लेकिन तुम्हारी अर्धाँगनियों को है तो तुम्हें ही है। वह है क्रियाशीलता का - रजोगुण को स्वीकार करने का शाप। भोग-प्रवृत्ति रजोगुण की। तुम परम स्वतन्त्र, तुम पर प्रतिबन्ध तो कोई कहीं लगा नहीं सकता। तुममें यह प्रवृत्ति न हो तो तुम वहाँ जाकर भी कुछ करोगे ही नहीं। तुमसे कुछ कराना हो तो तुममें प्रवृत्ति तो देनी ही चाहिये थी।'

'मैं खूब धूम करूँगा।' भद्र ने ताली बजायी - 'अपनी मर्यादाएँ आप सम्हालना।'

'तुम जानते हो कि मेरे गण कोई मर्यादा नहीं मानते।' भगवान शिव ने सस्मित कहा - 'तुम्हारे इन अनुज को भी मर्यादाओं की बहुत पड़ी नहीं होती। यहाँ से बिम्ब जाय या प्रतिबिम्ब पड़े, कोई कर्म-परतन्त्र तो जा नहीं रहा। अतः शास्त्र का बन्धन ही कहाँ रहता है। मैं और तुम्हारे ये अनुज भी केवल इतना जानते हैं कि जो तुम्हारा, तुम्हारे अनुकूल, तुम जिस पर प्रसन्न, वह हमारा और हमारा प्रीतिभाजन। जो तुम्हारे प्रतिकूल - उसका कर्म, धर्म, प्रारब्ध हम दोनों को देखना नहीं आवेगा। उसके भाग्य में केवल दुःख और पतन।'

'बाबा, आप भी इतने पक्षपाती बनोगे?' भद्र को यह व्यवस्था बहुत रुची नहीं।

'हाँ, बनेंगे।' कन्हाई ने पहिली बार सिर उठाया - 'बाबा तो सदा से ही ऐसे हैं। अपनों के - केवल अपनों के।'

बाबा की ओर से कन्हाई ने कुछ कह दिया तो बात दुगुनी पक्की हो गयी। अब बाबा तो उसे अपना विधान मान लेंगे।

'पर बेचारी सुवर्चला......।' भद्र का स्वर बहुत करुण हो उठा।

'उसे विशुद्ध वाणी तो कभी नहीं मिलेगी। भगवती योगमाया ने विधान ही यह कर दिया; किन्तु अन्त में वह संगीत के स्थान पर नृत्य प्राप्त कर लेगी अपनी निकुञ्जेश्वरी की सेवा के लिए।' आशुतोष भी उस पर सदय ही थे - 'श्वान-योनि उसे परिशुद्ध कर देगी। उसे तुम्हारी सहधर्मिणियों से एक की सेवा मिल जायगी। तुम्हारी चरण-रज पाकर वह मनुष्य योनि प्राप्त कर लेगी।'

'लेकिन बाबा! मैं भाभियों की अपराधिनी को अपना नहीं सकता।' कन्हाई ने कुछ कातर भाव से ही महेश्वर की ओर देखा - 'आप ऐसा कोई आशीर्वाद मत दो। उस पर कृपा तो वह भाभी

कर सकती है, जिसे उसने सबसे अधिक तिरस्कृत किया और यदि भद्र उसे अपना सकेगा तो निकुञ्जेश्वरी को अस्वीकार करने का अवसर नहीं रहेगा। मैं स्वीकार करूँ तो स्वयं मैं ही रोष-भाजन बन जाऊँगा।'

'वह कूष्माण्ड?' भद्र ने अन्त में पूछा।

'मैंने तुमसे अनुरोध किया है कि उसकी चर्चा मत करो।' भगवान शिव का स्वर खिन्न हो गया - 'वह तो प्रेत था - तमोगुणी प्रेत। उसका शाप तामसिक। उसने काल की सीमा निर्धारित की तुम्हारे लिए। अतः वह अनन्तकाल तक प्रेत ही रहेगा। अब भी वह कूष्माण्ड ही बना लुढ़कता फिरता होगा।'

'कनूं! तू उसके रूप में कभी कद्दू बनेगा?' भद्र को हँसते देखकर कन्हाई बोल पड़ा - 'बनूँगा, क्या हुआ इसमें?'

जो कछुआ, मछली, वाराह भी बनता है, वह कूष्माण्ड भी बन जायगा और तब वह कूष्माण्ड भले अनन्तकाल तक उसी योनि में रहे, इन नीलकण्ठ प्रभु का सामीप्य तो उसे प्राप्त हो ही जायगा।

तुम्हारी जय हो-

'अम्बा आद्या अत्यन्त क्रुद्ध हैं। सुर ही नहीं, सृष्टिकर्ता तक संत्रस्त हैं कि वे शान्त न हुईं तो उनका रोष ही प्रलय कर डालेगा।' कन्हाई का स्वर भी इस समय भरा-भरा है। भद्र के कन्धे पर कर रखे यह ऐसा सचिन्त हो रहा है कि कोई कल्पना भी न कर सके। आनन्दकन्द कन्हाई में चिन्ता - सोचने से भी परे की बात है।

'भगवान चन्द्रमौलि भी इस समय उन त्रिपुरा के सम्मुख जाने को प्रस्तुत नहीं हैं।' श्यामसुन्दर यह नहीं कह पा रहा है सखा से कि तू जा। कहता है - 'तू स्वीकार करे तो मैं जाता हूँ। वे हुंकार करके देखेंगी ही तो। फिर तो स्वयं पश्चाताप होगा उन्हें।'

त्रिपुरसुन्दरी हुंकार करके देखेंगी - इस बात को कन्हाई ही इतने साधारण ढंग से कह सकता है। उन महाशक्ति का सहुंकार दृष्टिपात सहन करने का साहस तो साक्षात् प्रलंयकर प्रभु भी अपने में नहीं पा रहे हैं। काल भी रुई के नन्हें टुकड़े के समान भस् से भस्म हो जाय उस हुंकार से और कन्हाई जायगा उसे झेलने?

'तू क्यों जायगा?' भद्र को अपने इस भोले अनुज की चिन्ता का कारण मिल गया है - 'डरता है कि मुझे भी वे हुंकार करके

देखेंगी? ऐसा शक्य नहीं है। वे अम्बा हैं, अनन्त करुणामयी अम्बा। मैं उनके समीप जा रहा हूँ। देखता हूँ कि मुझे देखकर उनमें वात्सल्य कैसे नहीं उमड़ता।'

'तू ही उन्हें शान्त कर सकता है।' कन्हाई ने अंकमाल दी - 'लेकिन ऐसे मत जा। शिशु बनकर जा तो वात्सल्य सहज उमड़ेगा।'

गोलोक भावलोक है। भद्र के वस्त्राभरण अदृश्य हो गये। एक ढाई वर्ष का शिशु बन गया वह। ताम्र गौर, कमल लोचन, किसलय सुकुमार दिगम्बर शिशु कुटिल अलकें लहराता, कर के कंकण, कटि की रत्नमेखला और चरणों के नूपुरों की रुन-झुन करता नन्हें पदों से दौड़ चला। उसे कहाँ किसी देश में जाना था। सूक्ष्मता से स्थूलता में अवतरण कोई देशगत दूरी है कि श्रम पड़ता।

अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड और उनके सत्यलोक, जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, स्वर्ग - लेकिन भद्र के वे लीलामय अनुज उसे जहाँ भेजना चाहते थे, वहीं तो उसे प्रकट होना था।स्वर्गंगा का वह असीम विस्तार क्षण-क्षण कम्पित हो रहा था। भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड, राक्षस, यक्ष, बैताल, भूतनी, प्रेतनी,

पिशाचिनी, योगिनी, यक्षिणी, राक्षसियाँ, चुड़ेंलें - लक्ष-लक्ष भयंकर दारुण वर्ण और ये तो किसी गणना में ही नहीं। चामुण्डा, शीतला, काली, उग्रतारा, कपालिनी, छिन्नमस्ता, सब भैरव अपने वाहनों पर अस्त्र-शस्त्र उठाये हुंकार करते अन्धाधुन्ध दौड़ रहे थे। चक्कर काटते भटक रहे थे। जैसे सब उन्मादग्रस्त हो गये हों।

शुम्भ-निशुम्भ का तो शव भी चामुण्डा ने चबा लिया था। उस रणांगण में केवल भूमि रक्तात्त थी और अस्त्र-शस्त्रों तथा रथों के खण्ड बिखरे पड़े थे। असुरों में किसी का मस्तक नहीं बचा था। सब मुण्ड या तो भूत-प्रेतों, कालिकाओं ने कण्ठाभरण बना लिये थे या कन्दुक बनकर खण्ड-खण्ड हो चुके थे।

एक भी शव-धड़ पूरा नहीं था। सब चिथड़े हो रहे थे। उनकी आँतें प्रेत-पिशाचों ने गले में लटका रखी थी। गज, अश्व, खच्चर, गर्दभ आदि असुर-वाहनों के शव भी फाड़-चीथ डाले गये थे। अत्यन्त वीभत्स दृश्य और भयानक हुंकारें, घोर चीत्कारें।

प्रेत-पिशाचादि चिल्लाते क्रोधोन्मत्त दौड़ रहे थे। उन्हें फाड़ने-चीथने, तोड़ने-फोड़ने को भी कुछ मिल नहीं रहा था। सबसे ऊपर, सबसे भयानक शब्द था महासिंह की दहाड़। वह

आद्या का वाहन कराल दंष्ट्रा केशरी निरन्तर दहाड़ रहा था। उसकी दहाड़ से दिशाएं जैसे फटी जा रही थीं।

महासिंह पर आरूढ़ा षोडशभुजा सायुधा आद्या महाशक्ति त्रिपुरसुन्दरी अतिशय क्रुद्ध थी। उनके खड्ग, त्रिशूल से रक्त झर रहा था। उनके कर के खप्पर से सधूम ज्वाला उठ रही थी और वे हुंकार कर रही थीं। क्षण-क्षण पर हुंकार कर रही थीं। उनकी हुंकार से दिशाएँ काँप रही थीं। जैसे ब्रह्माण्ड फट जायगा। त्रिलोकी भस्म हो जायगी। उनकी हुंकृति से भूत-प्रेतादि, चामुण्डा-कालिका सब उन्मत्त भाग रही थीं।

उग्र भृकुटि, कठोर नेत्र - उन महाशक्ति की ओर देखने का साहस सुरों में भी नहीं था। बहुत दूर भाग गये थे वे और सब केवल 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहे थे; किन्तु किसी को कहीं कोई त्राण देने वाला दीख नहीं रहा था।

'अम्ब!' अचानक एक शिशु के कण्ठ की अतिशय मृदुल, क्षीण ध्वनि कहीं से आयी और भद्रकाली ने चौंककर इधर-उधर देखा। उनके चरण स्थिर हो गये।

'अम्ब!' ढाई वर्ष का अत्यन्त सुन्दर, कुसुम सुकुमार, गौरवर्ण, दिगम्बर शिशु दौड़ता चला आ रहा था। ऐसे चला आ रहा था जैसे भूत-प्रेत-पिशाच उसे दीखते ही न हों। जैसे केशरी की दहाड़ और आद्या महाशक्ति की त्रिभुवनभेदी हुंकार उसके श्रवणों तक पहुँच ही न रही हों।

'अम्ब!' भद्रकाली की दृष्टि उस शिशु पर पड़ी और उनके दक्षिण कर का अस्थिदण्ड ऊपर उठ कर आकाश में हिलने लगा। वह दण्ड हिला और जैसे भूत-प्रेत-पिशाचादि, डाकिनी-शाकिनी सब, कालिका-चामुण्डा-उग्रतारा प्रभृति सबके पद एक साथ स्थिर हो गये। सब जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये। सबका चीत्कार करना बन्द हो गया। सबके अस्त्र-शस्त्र उठाये कर नीचे आ गये।

'अम्ब!' शिशु पर दृष्टि गयी और सृष्टि का वह सीमातीत उग्र समुदाय ऐसा शान्त, सौम्य बन गया जैसे उनमें उग्रता कभी थी ही नहीं। अवश्य सब सिमटने लगे।

'अम्ब!' शिशु तो दौड़ता आया और दौड़ता सबके मध्य में चला जा रहा है। वह नीचे देखता ही नहीं कि कहाँ अस्त्र-शस्त्रों के खण्ड पड़े हैं और कहाँ कोई चिथड़ा बना गज या अश्व है।

भद्रकाली के कर का अस्थिदण्ड हिल रहा है। वे जानती हैं कि शिशु के सुकुमार पाद-तल में कोई नन्हीं कंकड़ी भी चुभी या कोई शव-खण्ड उससे ठकराया तो आद्या उन्हें क्षमा नहीं करेंगी। अस्थिदण्ड हिल रहा है और शिशु के सम्मुख का मार्ग स्वच्छ होता जा रहा है। शवों के टुकड़े, रथों तथा शस्त्रों के खण्ड स्वत: उछलकर दूर गिरते जा रहे हैं।

'अम्ब!' शिशु दौड़ता कराल दंष्ट्रा, ज्वलदग्निमूर्धजा, उग्र नेत्र दहाड़ते केशरी की ओर ही जा रहा है।

'चुप!' अपनी नन्हीं सुकुमार हथेली धर दी शिशु ने दहाड़ते केशरी की नाक पर और डाँटा - 'फिर बोलेगा तो तेरी नाकपर चपत मारूँगा - ऐसी चपत कि छींकते-छींकते थक जायगा तू।'

केशरी ने चौंककर शिशु को देखा। उसका मुख बन्द हो गया। मस्तक झुका दिया उसने। वह ऐसी चेष्टा करने लगा जैसे उससे अपराध हो गया और अब क्षमा चाहता है। यदि आद्या उसकी पीठ पर आरूढ़ न होतीं तो वह अवश्य शिशु के पदों में अब तक लोट गया होता।

'अम्ब!' शिशु को केशरी की चेष्टा पर ध्यान देने का अवकाश नहीं। केशरी तो शान्त हो गया। भूत-प्रेतादि कबके चुपचाप, शान्त खड़े हो चुके। दिशाएँ निर्मल हो गयीं। समीर अब लू के स्थान पर सुखस्पर्शी बन चुका है; किन्तु ये महाशक्ति अभी हुंकार कर ही रही हैं।

'अम्ब!' शिशु झलल्ला गया। वह तो छोटा है। इतने बड़े सिंह की पीठ तक उसके कर पहुँच नहीं सकते; किन्तु उसकी पुकार ये अम्बा क्यों नहीं सुन रही हैं? उसने देवी के दक्षिण चरण के समीप जाकर उनका पादांगुष्ठ पकड़ा ओर हिला दिया।

'वत्स तुम!' सहसा भगवती ने अपने चरण का अंगुष्ठ पकड़े बालक को देखा और एक साथ सब करों के अस्त्र-शस्त्र, खप्पर आदि सिंह के वामपार्श्व में फेंककर कूद पड़ीं। शिशु को उन्होंने झुककर अंक में उठा लिया।

'अम्ब!' उन आद्या के अंक में पहुँचकर शिशु ने मुख उठाकर उनके श्रीमुख की ओर देखा और अपनी नन्हीं हथेली उनके कपोल पर रख दी - 'तू क्रोध करती है?'

'वत्स!' उन महाशक्ति के पयोधर अमृत-निर्झर बन चुके थे। अतिशय वात्सल्य से उनका वीणा विनिन्दक स्वर भी कम्पित था। शिशु के ललाट को चूमकर बोलीं - 'तुम समीप नहीं होते, तब कभी क्रोध भी आ जाता है। अब तो वह भाग गया।'

'भाग गया अम्ब?' शिशु ने इधर-उधर मस्तक घुमाकर देखा। जैसे क्रोध कोई शशक-मूषक या श्वान होगा जिसे भागते देख ले सकेगा।

'अम्ब! तू तो दयामयी है?' शिशु भला अपनी स्नेहमयी अम्बा का स्तवन करेगा। वह तो अभी सुनी पिछली हुंकारों और क्रोध का उपालम्भ दे रहा था।

'दयामय तो तुम हो। अपना आनन्द लोक और अपने आनन्द-कन्द अनुज को त्यागकर इस माया-मण्डल में स्वेच्छा से त्रिभुवन को आश्वासन देने उतर आये।' आद्या ने स्नेह-विगलित स्वर में अनुरोध किया - 'अब आ ही गये हो तो धरा को भी धन्य कर दो। उस अपने अपराधी कूष्माण्ड को केवल तुम्हीं क्षमा करके उसके आराध्य के समीप भेज सकते हो।'

'उसे तो कन्हाई भेज देगा भगवान भोले बाबा के समीप।' बालक ने सहज भाव से कह दिया - 'मैं तनिक धरा को भी घूम लूंगा; किन्तु तू मेरी वहाँ देखभाल करती रहेगी अम्ब! मैं पुकारू तो हुँकार करने में या सो जाने में नहीं लगी रहेगी।'

'अब तो मैं तब तक तुम्हीं पर दृष्टि लगाये रहूँगी, जब तक तुम अपने अनुज के समीप नहीं पहुँच जाते।' उन महाशक्ति ने कह दिया - 'तुम्हें पुकारना नहीं पड़ेगा।'

'अम्बा आद्याकी जय !' शिशु ने प्रसन्नता से ताली बजायी।

'जय ! तुम्हारी-अमृतपुत्र ! तुम्हारी जय !' आद्या ने भी सोल्लास जयध्वनि की।

मुनिकुमार-

अक्षुण्णव्रत अमिततेजा मुनि सुव्रत का कुमार सुभद्र; किन्तु कुछ तो नहीं सीखता। सतयुग का बालक और वह भी विप्रकुमार, परन्तु इतना चपल! माता बहुत दुःखित रहती हैं। उनको लगता है कि उन्हीं के किसी असंयम, असच्चिन्तन से उनका पुत्र ऐसा बहिर्मुख हो गया है।

मुनि सुव्रत में प्रमाद के प्रवेश की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कौमारावस्था से वे सहज तापस। ध्यान में बैठे रहना उनका स्वभाव है और समाधि तो जैसे उनके संकल्प की प्रतीक्षा करती रहती है।

पिता की आज्ञा स्वीकार करके उन्होंने पत्नी-परिग्रह किया था। महर्षि त्रित उत्सुक न हो उठते उन्हें अपनी कन्या प्रदान करने को - वे कहाँ इस प्रपञ्च में पड़ने वाले थे। महर्षि ने उनके पिताश्री से अनुरोध किया और पिता की आज्ञा उन्हें स्वीकार करती पड़ी।

वह कृतयुग था - सृष्टि का प्रथम सतयुग। उस समय गृह-निर्माण तो केवल शासक और वणिक् के लिए उचित माना जाता था। ब्राह्मण तो उटज भी नहीं बनाते थे। आहार देने को वन में

पर्याप्त वृक्ष थे और अग्निहोत्र के लिए अग्नि गिरि-गुहाओं में सुरक्षित रह सकते थे। ब्राह्मण क्यों वस्तु परिग्रह करे या झोपड़ी बनावें। वर्ष में कुछ ही दिन तो होते हैं जब वर्षा से अग्नि-रक्षा के लिए आश्रय अपेक्षित है।

अत्यन्त आग्रह, आदर भी अपवाद स्वरूप गिने-चुने ब्राह्मणों को ही किसी वणिकप्रधान या राजधानी के समीप रहने को बाध्य कर पाता था। वे समर्थ, साधनसिद्ध अतिशय कृपालु महर्षि थे। लोक पर अहैतुकी कृपा करके ही वे किसी गृहाश्रयी के कुछ समीप रहना स्वीकार करते थे। इसलिए स्वीकार करते थे जिससे क्षत्रिय एवं वैश्य गृहस्थों का संस्कार सुरक्षित रहे। इनके बालकों को सम्यक् शास्त्र-शिक्षण प्राप्त हो।

न नगर, न ग्राम। कहीं शासक का कोई सदन है तो वहाँ कुछ थोड़े झोपड़े। उनके आचार्य महर्षि वहीं कहीं समीप के वन में जल का सुपास देखकर किसी गुफा को आश्रम बना लेते थे।

तब कृषि की कल्पना भी नहीं थी। वनों में प्रचुर फल, कन्दादि थे। प्रकृति इतनी निर्मल कि वन पशु तक शान्त। कहीं रजस का संघर्ष या तमस का कल्मष नहीं।

वणिक वर्ग को कुछ वन्य अथवा समुद्र-तटीय पदार्थ नारिकेल, सुपारी जैसे व्यापार को प्राप्त थे और उस समय व्यापार वस्तु-विनिमय ही था।

वनों में फल-जल की सुविधा देखकर कोई कहीं टिक जाता था। मानव सहज अन्तर्मुख, उसे समाज- साथ की अपेक्षा नहीं थी और नहीं था कोई भय। जनसंख्या अत्यल्प। कई दिन चलने पर कोई दूसरा मिल जाय तो सर्वेश की महती कृपा।

शासक को केवल रुग्ण, उन्मत्त पशुओं एवं यदा-कदा अपवाद रूप किसी मनुष्य की भी व्यवस्था करनी थी। अतिशय वृद्धों में देह का मोह तो होता नहीं था। अत: वे अनशन आदि उपायों से नियम-निर्वाह में असमर्थ होने पर स्वयं देहत्याग कर देते थे।

अतिवृष्टि-अकाल, अन्धड़-उत्पात्, सप-वृश्चिक, दंश-मशक, मूषक-टिड्डी, रोग आदि उत्पात प्रकृति में मनुष्य के पापों से विकृति आने पर उत्पन्न होते हैं। उस समय इनका नाम भी किसी ने नहीं सुना था।

रोगी-आहत, अपंग-असहाय, अन्ध-बधिर कहीं सुने नहीं जाते थे। अवश्य बहुत कम मनुष्य थे धरापर; किन्तु जो थे, स्वस्थ, सुन्दर, सन्तुष्ट, सौम्यशील थे।

सत्वगुणप्रधान सतयुग में क्रियाशीलता अत्यल्प थी। चाहे जो एकाकी कानन में ध्यानस्थ बैठा है और बैठा तो कौन कह सकता है कि वह कितने सप्ताह या दिन समाधिस्थ रहकर उठेगा। यही किसे पता था कि कितने क्षण पश्चात् वह पुनः बैठ जायगा किसी शिला पर पुनः ध्यान करने।

मुनि सुव्रत तो किशोर होने से भी पूर्व समाधिनिष्ठ हो गये थे। उस समय की निर्मल मेधा शिशुओं को श्रुतधर सहज बना देती थी। पिता से पाँच वर्ष की अवस्था में ही प्रणव की दीक्षा मिली। गायत्री श्रवण की। बस, शिक्षा सम्पूर्ण। शेष तो स्वयं समाहित चित्त में स्वतः प्रकट हो जाना था। आवश्यकता भी क्या थी उस तप एवं ध्याननिष्ठ समय में किसी विशेष शिक्षा की।

यात्रा भी करनी ही पड़ती थी। जब किसी अन्त:करण में तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न हो, उसे गुरु के अन्वेषण में निकलना पड़ता था। वैश्य वस्तु-विनिमय के लिए यात्रा करते थे। क्षत्रिय को यात्रा

करते ही रहना चाहिये। उसे कहीं रक्षा का - सेवा का सौभाग्य ढूँढकर ही तो मिलना था।

कन्या किशोरी हो जाय तो कन्या के पिता को उसके लिए सुयोग्य वर ढूँढ़ने निकलना पड़ता था। महर्षि त्रित ऐसे ही अपनी कन्या लेकर यात्रा करने निकले थे। मुनि सुव्रत को उन्होंने देखा और उनके पिताश्री से प्रार्थना की। सुव्रत को पिताकी आज्ञा मानकर उस कन्या का पाणि-ग्रहण करना पड़ा।

महर्षि त्रित तो कन्या देकर चले गये। उस समय ब्राह्म-विवाह - कन्या के साथ कुछ सामान्य वस्तुएँ, वल्कलादि दिया और विवाह सम्पन्न। अब कन्या का भार उस पर जिसने उसका हाथ पकड़ा।

पुत्र ने विवाह कर लिया - गृहस्थ हो गया तो पिता पर उसका दायित्व नहीं रहा। वह अब अपना पृथक आवास अन्वेषण करे। मुनि सुव्रत ने उसी दिन पिता-माता को प्रणाम करके पत्नी के साथ यात्रा कर दी।

'देवि! यह गिरि-गुहा तुम्हें और मेरी गार्हस्थ्य अग्नि के लिए उपयुक्त आश्रय है। वन में एक छोटी सरिता के समीप सुव्रतजी ने

एक गुफा ढूँढ़ली और उनका कर्तव्य पूरा हो गया। अब गृहिणी जाने और उसका वह गुहा-गृह जाने। सुव्रत मुनि तो दो घड़ी पीछे ही सरिता तट पर एक शिला पर मृगचर्म बिछाकर बैठ गये ध्यानस्थ।

वन से कन्द, फल, समिधा लाना पत्नी का कर्तव्य। प्रात:-सायं अग्निहोत्र करके अग्नि-रक्षा भी उसी को करनी। वह गृहस्थ है, अत: उसका सबसे बड़ा कर्तव्य अतिथि-सत्कार उसे उसके पति ने निर्दिष्ट कर दिया है; किन्तु अतिथि तो कभी जगदीश्वर कृपा करके भेजेंगे तब सेवा का सौभाग्य मिलेगा। वह प्रतीक्षा ही तो कर सकती है। प्रतीक्षा तो उसे सप्ताह-के-सप्ताह करनी पड़ती है कि उसके आराध्य ध्यान से उठें तो उन्हें कुछ फल-जल अर्पित कर सके।

'देवि! तुमने अपने शरीर की उपेक्षा करके मेरी सेवा की इतने वर्ष।' किसी सौभाग्य से, किसी सुघड़ी में मुनि सुव्रत फलाहार करके पुनः ध्यान करने नहीं बैठे। उन्होंने पत्नी के मुख की ओर देख लिया। कृशकाय उस तपस्विनीपर दया आयी उन्हें। उन्होंने पूछ लिया - 'तुम्हें क्या अभीष्ट हैं?'

'देव! बाल्यकाल में माता से सुना है' उस गरिमामयी ने नमितनयन, लज्जारुण मुख किसी प्रकार कहा - 'नारी की सफलता मातृत्व में है।'

'ओम्!' मुनि सुव्रत ने स्वीकृति दे दी। पत्नी ने यदि वह अवसर खो दिया होता - कौन कह सकता है कि मुनि को पुनः कभी पूछने की प्रवृत्ति होती भी या नहीं।

मुनि की वह स्वीकृति सार्थक तो होनी ही थी। नो महीने पश्चात् उसके अंक में मुनि सुव्रत की ही दूसरी नन्ही मूर्ति, वैसा ही सुन्दर, कमल-नेत्र कुमार आ गया। मुनि ने उसका नामकरण किया सुभद्र।

सुभद्र को माता का सम्पूर्ण वात्सल्य मिला। वह बढ़ने लगा; किन्तु माता को उसके शैशव ने सन्तुष्ट नहीं किया। एक मुनिकुमार और इतना चपल! वैसे माता को अपने शिशु की चिन्ता कम ही करनी पड़ती थी। वन के पशु और पक्षी तभी से उसे घेरे रहने लगे, जबसे वह भूमि पर बैठने लगा।

'यह मृग या केशरी शावकों को पकड़ लेता है। उनके ऊपर चढ़कर उन्हें संत्रस्त करने में भी संकोच नहीं करता।' मुनि पत्नी ने

अत्यन्त खिन्न-कण्ठ एक दिन पति से प्रार्थना की - 'तनिक भी शान्त नहीं बैठता और अप्रक्षालित फल ही मुख में नहीं लेता, सिंहनी के शिशु के साथ उसके स्तन में भी मुख लगाकर मैंने इसे दुग्धपान करते देखा है।'

मुनि-पत्नी की चिन्ता का कारण था। शैशव में जो इतना चपल है, वह बड़ा होकर ध्यान कैसे करेगा? जिसमें जन्मजात आहार के शुद्धाशुद्धि का विवेक नहीं है, वह तपोनिरत कैसे रहेगा?

'मुझसे कहाँ प्रमाद हुआ?' मुनि पत्नी को बहुत मर्मव्यथा थी। वे सम्भव हो तो अब भी कोई कठोर तप, अनुष्ठानादि करके अपने इस शिशु को सुसंस्कार देना चाहती थीं।

देवि यह तो हमें धन्य करने आया है। मुनि सुव्रत ने ध्यान किया पुत्र के पूर्व संस्कार जान लेने के लिए। उस समय सब प्रकार के ज्ञान को पाने का एकमात्र उपाय ध्यान था। भौतिक-दैविक, परोक्ष-अपरोक्ष सब ध्यान में प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति अब भी है; किन्तु अब वैसा सुस्थिर ध्यान जो सम्भव नहीं होता। उस समय तो वह सहज था।

'इसके कोई प्राक्तन कर्म देखने में मैं असमर्थ हो गया।' मुनि ने नेत्र खोले और दो क्षण रुककर पत्नीसे कहा - 'सञ्चित, प्रारब्ध कुछ नहीं इसका। यह तो स्वेच्छा से तुम्हारे उदर में आया। अत: इसे किसी साधन की अपेक्षा नहीं। कहाँ से आया - मैं भी असमर्थ हूँ जानने में। केवल इतना कह सकता हूँ कि किसी दिव्यधाम से आया होगा। भगवती आद्या सहज अनुकूला हैं इस पर। मेरी ध्यान-शक्ति भी इसके सम्बन्ध में अधिक आलोक नहीं दे पाती।'

'कोई हो, आपका अंश है।' माता ने श्रद्धा भरित स्वर में कहा - 'इसे आपकी पवित्रता तो प्राप्त ही है। केवल चंचल बहुत है। सम्भव है, समय इसे शान्त बना सके।'

सुभद्र-

अति शीघ्र सुभद्र अकेला हो गया। आज की भाषा में कहना होता तो कहा जाता कि अनाथ हो गया; किन्तु सतयुग में तो इस अनाथ शब्द का कोई अर्थ ही नहीं था। कोई सद्योजात शिशु भी माता-पिताहीन होकर अनाथ नहीं होता था। प्रकृति ही तब पालिका थी। पशु-पक्षी के शावक तक अनाथ नहीं होते थे तो मानव शिशु अनाथ कैसे बनेगा। सुर तब धरा पर अपने को धन्य मानते थे। मानव की कृपा अपेक्षित थी उन्हें। किसी मानव-शिशु की रक्षा करके वे अपना ही भविष्य उज्ज्वल करते; क्योंकि बड़ा होकर वह अपने रक्षक का प्रबल-पोषक ही तो बनने वाला होगा।

सुभद्र के पिताश्री ने मान लिया कि पुत्र उत्पन्न हो गया तो वे पितृऋण से मुक्त हो गये। ऋषि-ऋण और देव-ऋण से तब ब्राह्मण सहज मुक्त होता था। मोह तब सामान्य मानव के भी मन को मलिन नहीं बना पाता था, सुव्रत तो मुनि थे। उन्होंने अपनी ध्यान-शिला पर समाधि लगायी बिना उत्थानका कोई संकल्प लिये। निर्विकल्प समाधि निर्वीज हो तो शरीर केवल इक्कीस दिन ही तो टिकता है।

मुनि-पत्नी आराध्य के चरणों पर प्रतिदिन के समान पुष्पाञ्जलि अर्पित करने आयी प्रात:काल, तो उन्हें अनेक अकल्पित बातें देखने को मिलीं। उनके आराध्य के चारों ओर वन-पशु एकत्र थे। मृग, वाराह, गज, केशरी आदि सब और वे व्यथित लगते थे - रुदन करते-से। पक्षी बार-बार उड़ते थे और फिर नीचे बैठ जाते थे। उनमें भी चारा-चुग्गा ढूंढ़ने का उत्साह नहीं था। वे चीत्कार कर रहे थे।

पशुओं ने मुनि-पत्नी को स्वतः मार्ग दे दिया। अनेक ने उन्हें सूंघा और ऐसी चेष्टा की जैसे कोई अनुरोध करते हों। पक्षियों का समूह चीत्कार कर उठा।

'क्या है? क्या हुआ है तुम सबको?' उन स्नेहमयी के सब शिशु ही थे। लेकिन पति के समीप वे त्वरित पदों से पहुँचीं। पशु-पक्षियों का अनवरत संकेत उसी ओर था। पहुँचकर भी ठिठक गयीं। उनके आराध्य के श्रीमुख पर तेज आज नहीं था।

समाधि में शरीर में ऊष्मा नहीं रह जाती। हृदय की धड़कन एवं नाड़ी की गति अवरुद्ध हो जाती है। निर्विकल्प समाधि में स्थित योगी का शरीर-परीक्षण करके कोई कुशल चिकित्सक भी उसे मृत ही मानेगा; किन्तु पशु-पक्षी प्रकृति के पुत्र होते हैं। उन्हें

भ्रम नहीं हुआ करता। मुनि-पत्नी ने पशु-पक्षियों की चेष्टा देखी, पति का तेजोहीन मुख देखा, बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगीं तो देखा कि कुछ चींटियाँ उस दिव्य देह पर चढ़ने लगी हैं।

'आपने इस दासी को अनुगामिनी बनने का सौभाग्य दिया!' केवल दो बिन्दु अश्रु गिरे नेत्रों से। मुनिपत्नी क्षणभर में स्वस्थ हो गयीं। उनका मुख अपूर्व ज्योति से दीप्त हो गया। वहाँ कोई देखनेवाला नहीं था कि उनके पादतल से कुंकुम झरने लगा है। वे जहाँ पादक्षेप करती हैं, वह भूमि अरुण हो जाती है।

उन्होंने स्वयं सरिता में स्नान किया और स्वामी का शरीर अंक में उठाकर उसे स्नान कराया। उसी शिला पर, उसी मृगचर्मास्तरण पर उन्होंने उस शरीर को लिटा दिया। पुनः स्नान करके जलाञ्जलि दी पति को।

उस देह को अंक में लिये ही वे गुहा में आयीं। सब एकत्र समिधाएं अग्नि में एक साथ अर्पित करके उस देह को अंक में लिये उन दिव्या ने अग्नि में प्रवेश किया। जिस अग्नि की निष्ठापूर्वक विवाह के दिन से अब तक उन्होंने सेवा की थी, पतिदेह के साथ अपने शरीर को भी उन्होंने अन्तिम आहुति दे दी।

पिता तो सदा से ममता से रहित थे। उनमें अपने शरीर के प्रति ही राग नहीं था तो स्त्री-पुत्र के प्रति ममता कहाँ से होती। स्नेहमयी माता का भी यह अग्नि-प्रवेश सुभद्र शान्त देखता रहा। वह न रोया, न चिल्लाया और न उसने माता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का कोई प्रयत्न किया।

माता - उसकी जननी सामान्या नारी भी होती तो सतयुग की नारी थी। वैसे वे ऋषिकन्या थी। मुनिपत्नी थी। जैसे ही अनुमान हुआ कि उनके पति ने देहत्याग दिया, उसी क्षण उन्हें अपना शरीर और संसार विस्मृत हो गया। अपने चार वर्ष के दिगम्बर शिशु सुभद्र पर उन्होंने दृष्टि ही नहीं डाली।

माता-पिता का शरीर भस्म बन गया। सुभद्र गुहा-द्वार पर तब तक खड़ा रहा, जब तक गुहा में वह चिताग्नि धू-धू करके जलती रही। वह उस अग्नि को ही देखता रहा। पता नहीं उस अग्नि में वह क्या देख रहा था। अग्नि से जब नन्हीं लपट भी उठना बन्द हो गयीं, वह उसी गुहा के द्वार पर लेट गया। पता नहीं कब उसे निद्रा आ गयी।

पशुओं में भी किसी ने उस दिन आहार नहीं लिया था। पक्षी तक उपोषित थे। पशुओं का समूह सुभद्र को घेरे रात्रि भर जागता रहा और पक्षी समीप के वृक्षों पर, शिलाओं पर ही बैठे रहे।

दूसरे प्रभात में सुभद्र जागा। उसने सरिता में स्नान करना सीख लिया था। वह उठा तो पक्षियों, पशुओं का समुदाय भी सक्रिय हुआ। बहुत-से पशु वन में दौड़ गये। अनेक पक्षी उड़ गये वन की ओर।

सुभद्र - चार वर्ष का दिगम्बर बालक सुभद्र स्नान करके उस गुफा में आया। अब तक चिता का एक अंश सुलग रहा था। जो भाग शीतल हो गया था, वहाँसे उस बालक ने अपनी छोटी अञ्जलि में भस्म उठायी और उसे लेजाकर सरिता के जल में डाल दिया। आप इसे चाहे अस्थि-विसर्जन कहें या तर्पण।

बालक सरिता के प्रवाह पर फैल कर बहती उस भस्म को खड़ा देखता रहा - देखता रहा। फिर उसने सरिता में प्रवेश करके स्नान कर लिया।

वन में गये अनेक पशु तथा पक्षी भी लौट आये थे या लौट रहे थे। सब कोई-न-कोई फल ले आये थे। सबने अपने वे उपहार बालक के सम्मुख रख दिये।

बालक सुभद्र वहाँ बना रहता तो ये पशु-पक्षी उसकी सदा सेवा करते रहते। वह तो इनके साथ खेलने का अभ्यस्त था। ये पहिले भी उसे प्यार-दुलार देते रहे थे। वह इनमें अनेक के स्तनों में मुख लगाकर दूध पी चुका है। गज-भल्लूक उसे पीठ पर बैठाकर अनेक बार दूर तक वन में घुमा चुके हैं।

सुभद्र बालक सही; किन्तु मुनिकुमार था। वह आकाश की ओर दृष्टि उठाकर इच्छा करता तो सुरों में से अनेक और सुरराज भी उसकी सेवा में तत्काल उपस्थित हो जाते। यह ठीक है कि वह गुहा अभी रहने योग्य नहीं थी; किन्तु सुभद्र दो घड़ी भी वहाँ बना रहता तो पशु पक्षी ही गुहा को स्वच्छ कर देते।

यह सब कुछ नहीं हुआ। सुभद्र का उस गुहा में अब कोई आकर्षण नहीं रहा। उसने फिर उस ओर देखा ही नहीं। पशु-पक्षियों के लाये फल कन्द भी उसने उठा-उठाकर उनको ही वितरित किये। उसके छोटे हाथों का उपहार सबने स्वीकार कर

लिया। व्याघ्र और केहरी तक ने उसके कर से मिले कन्द मुख में डाल लिये।

सुभद्र केवल तब तक रुका वहाँ, जब तक उसकी समझ से सब पशु-पक्षी नहीं आ गये और वह सबको कोई-न-कोई फल या कन्द नहीं दे चुका। वह ननृहा बालक अनजान में ही माता-पिता की यह अन्त्येष्टि नहीं कर रहा था, यह कर्मकाण्ड का कोई धुरन्धर विद्वान भी कहने का साहस करेगा?

सुभद्र को वहाँ से चले जाना था; किन्तु यह बहुत कठिन था। कहाँ जाय वह? किधर जाय? उसने तो अब तक अपने माता-पिता को छोड़कर कोई दूसरा मनुष्य भी पृथ्वी पर कहीं होगा, यह जाना ही नहीं है। इस गुफा, इस छोटी सरिता और आसपास के वन के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं जानता। इन पशु-पक्षियों के अतिरिक्त कोई परिचय उसका कहीं नहीं।

इतने छोटे बालक को पूर्व-पश्चिम का पता होता है? अब तक माता के अंक में और पशुओं के मध्य अथवा उनकी पीठ पर ही रहा है वह।

अभी उसकी आयु ऐसी नहीं है कि इनमें-से कोई कठिनाई उसे आतंकित कर सके। उसने जाना ही नहीं कि भय, आशंका या कष्ट क्या होता है। लेकिन उसकी कठिनाई ये पशु हैं। ये उसे घेरे खड़े हैं और मार्ग देने को प्रस्तुत नहीं हैं। यह उनको अपने नन्हें करों से कितना ठेले?

अनेक-अनेक उसके सम्मुख लेट गये हैं। केशरी भी श्वान के समान उसके पैरों में लिपट गया है। लेट-लेट जाते हैं ये व्याघ्र। वह तो इनको पुचकार कर भी हटा नहीं पाता है। इन सबके स्नेह का आग्रह; किन्तु वह मुनिकुमार है। उसका मन मोह से असंस्पृष्ट। उसने यहाँ से चले जाने का निर्णय किया तो यहाँ से जायगा ही।

किसी के भी स्नेहाग्रह के साथ निष्ठुरता तो की नहीं जा सकती; पशु-पक्षियों का स्नेहाग्रह, इस वर्ग ने बाधा दी तो सुभद्र सोचने पर विवश हुआ। वह सिर झुकाकर सोचने लगा - 'किधर जाय? क्यों जाय? कैसे जाय?'

सुभद्र केवल सतयुग का मुनिकुमार ही नहीं था। वह जन्मजात सिद्ध, जातिस्मर, और जब उसे स्मरण है कि कन्हाई उसका सखा, उसका अनुज है, तब उसके संकल्प में बाधा देने वाली शक्ति सृष्टि में कहाँ है।

'यह संसार कौन बनाता है? क्यों बनाता है? कैसे बनाता है?' सुभद्र के मन में प्रश्न उठा। सृष्टिकर्ता से ही मिल लेना उसे उचित लगा। इच्छा करते ही उसका शरीर वहाँ अदृश्य हो गया।

सृष्टिकर्ता के साथ-

अच्छा लगा सुभद्र को सृष्टिकर्ता का लोक। केवल एक बात उसे अटपटी लगी। कहीं कोई पशु-पक्षी नहीं। कोई उसका समवयस्क बालक नहीं।

वहाँ उसके पिता के समान जटाधारी ऋषि-मुनि थे। स्त्रियाँ बहुत थीं; किन्तु उसकी माता के समान तपस्विनी कोई नहीं दीखती थी। सब सुसज्ज थीं और वह इस श्रृंगार से अपरिचित था।

उसने धरा पर देखा ही क्या था; किन्तु इस अपरिचय ने उसे चौंकाया नहीं। उसके अन्तर्ज्ञान को-संस्कार को-स्मृति को (ठीक शब्द नहीं मिल रहा) जागृत कर दिया और जब उसे अपना गोलोक स्मरण आ गया - ब्रह्मलोक बहुत दरिद्र, असंस्कृत-कुरूप, उपेक्षणीय लगा उसे। वह कूतूहल से इधर-उधर देखता खड़ा रह गया। अवश्य धरा की जो स्मृति थी, उसके सम्मुख ब्रह्म लोक ऐसा था जैसे किसी जीर्ण झोपड़ी के सम्मुख राजसदन।

'तुम आ गये?' चतुर्मुख, भगवान ब्रह्मा सोल्लास उठे - 'उतनी दूर क्यों खड़े हो? यहाँ अभी तुम्हारे अनेक परिचित निकल आवेंगे।'

'वत्स! तुम मुझे तो पहिचानते हो।' देवी सरस्वती ने अंक में उठाया तो वह सहज प्रसन्न हो गया - 'अम्ब!'

'हाँ, वत्स!' वीणापाणि भगवती ने वीणा पृथक् धर दी थी। उनके कर की स्फटिक माला भी स्खलित हो गयी - 'यहाँ यह हंस तुम्हारा विनोद किया करेगा।'

अब उसने देखा कि एक खूब बड़ा, खूब उज्ज्वल हंस वहाँ है और वह समीप आ गया है।

'अम्ब! आप कैलाश पर ...... ।'

'वहाँ मैं कभी-कभी ही देवी हिमवान-सुता से मिलने जा पाती हूँ।' भगवती शारदा ने बीच में ही बालक को समझाया - 'लेकिन उन सिंहवाहिनी और सिन्धुसुता से भी मेरा अभेद है। तुम उमा के समान ही मेरे भी पुत्र हो और पुत्र को माता से माँगना नहीं

पड़ता। मेरा स्नेह तुम्हारा स्वत्व है। तुम कहीं रहो, तुम्हारा यह स्वत्व सदा प्राप्त रहेगा।'

'बाबा! आप सृष्टि करते हैं?' बालक अब प्रतिभा की देवी का आशीर्वाद पाकर ब्रह्माजी के पास आ गया - 'कैसे करते हैं? आप तो कुछ करते नहीं दीखते। केवल कुछ क्षण को अभी अदृश्य हो गये थे। कहाँ गये थे आप? सृष्टि करने गये थे? सृष्टि करने का आपका कोई कार्यालय अन्यत्र है? कहाँ है? मैं उसे देखूँगा? आप देखने देंगे?'

एक साथ बालक ने ढेर से प्रश्न कर डाले। अन्तत: बालक ही तो था।

'तुम कहीं जाना चाहो, कुछ देखना या करना चाहो तो तुम्हें मैं या मेरी सृष्टि का कोई रोक कैसे सकता है। सृष्टिकर्ता का स्वर गदगद हो गया था - 'मैं अनुरोध करता हूँ कि जब तक मेरी सृष्टि में रहने की इच्छा है, इसकी मर्यादा मानोगे तो मुझे अनुगृहीत करोगे।'

'मैं आपका और आपके नियमों की अवमानना नहीं करूँगा।' बालक ने वचन दिया - 'कुछ पटकूँ या तोड़ूँगा नहीं। ऊधमी तो कन्हाई है। वह कुछ करे तो आप उसे मना करना।'

'मैं उन्हें मना करूँगा?' ब्रह्माजी ने मस्तक झुकाया - 'मुझ जैसे असंख्य लोकस्रष्टा तुम्हारे द्वारपाल की दया दृष्टि के भिक्षुक रहते हैं; किन्तु तुम यहीं रह जाओ तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।

'बाबा! मैं कहाँ रहूँगा, कन्हाई जानता है।' बालक अपने सहज स्वभाव को कहीं छोड़ नहीं सकता - 'किन्तु आपने तो बतलाया ही नहीं कि आप सृष्टि कैसे करते हैं? कहाँ करते हैं?'

'मैं कहाँ सृष्टि करता हूँ।' सृष्टिकर्ता ने स्पष्ट स्वीकार किया- 'मैं तो निमित्त हूँ। तुम्हारे सखा एक रूप से सर्वेश्वर हैं। उन्होंने सब व्यवस्था ऐसी कर दी है कि किसी को कुछ करना नहीं है।'

'वे सर्वव्यापक हैं। चिद् घन हैं।' ब्रह्माजी ने बतलाया - 'मैं केवल सृष्टि के प्रारम्भ में कुछ प्रयत्न उनके प्रदर्शित पथ से करता हूँ। केवल प्रारम्भ में ही - पीछे तो सब अपने-आप चलता रहता है। मुझे तभी कुछ करना पड़ता है, जब कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाय।'

'आप तब करते क्या हैं?' बालक को विचित्र लगी यह बात।

'उन श्रीहरि का चिन्तन और उनके मंगलमय सुयश का श्रवण।' ब्रह्माजी के यहाँ गन्धर्व, अप्सराएं आ गयी थीं। अत: उन्होंने कहा - 'तुम भी सुनो। तुम्हें बहुत प्रिय लगेगा।'

बालक सुभद्र को सचमुच वह संगीत बहुत प्रिय लगा। वह भगवद्-यश कीर्तन तन्मय होकर सुनता रहा।

ब्रह्मलोक में क्षुधा-पिपासा तो है नहीं। स्वर्ग के समान ऐन्द्रियक भोग भी नहीं। सदा तृप्ति, सन्तुष्टि और शान्ति। वहाँ यदि कुछ क्रिया है तो मात्र यह श्रीहरि के सुयश का संकीर्तन।

वहाँ वाणी-व्यवहार भी नाममात्र का। देवी सरस्वती ने बालक के मस्तक पर अपना दक्षिण कर रख दिया और उसे सृष्टि का रहस्य प्राप्त हो गया।

कर्म, कर्म से संस्कार, संस्कारों से प्रारब्ध, प्रारब्ध से जन्म और संस्कार-भोग तथा नूतन कर्म। सृष्टि की यह अनादि परम्परा।

कर्म-संस्कार की अनन्त-अनवच्छिन्न धारा जैसे उसे प्रत्यक्ष दीख गयी।

चेतन तत्व सर्वव्यापक है, अत: अत्यन्त सूक्ष्म में भी विद्यमान है। कहना यह उपयुक्त है कि सूक्ष्मता में उसकी सन्निकटता बढ़ती जाती है, अतः चिच्छक्ति और शक्तिमत्ता भी बढ़ती जाती है।

विज्ञान की भाषा में कहें तो प्राणियों के रजवीर्य में जो लाख लाख कीटाणु हैं, उनमें भी अनेक क्रोमोसोम और प्रत्येक क्रोमोसोम में करोड़ों जीन्स। इन जीन्सों में संस्कार-ग्रहण की और उसे सैकड़ों पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने की अकल्पनीय शक्ति है। विज्ञान भी अभी बतला नहीं पाता कि जीन्स कब, कैसे संस्कार ग्रहण करता है और किस समय कौन-सा संस्कार वह प्रकट करेगा या छिपाये रहेगा।

प्राणियों के रंग, रूप, आकार - नख, केश, रोम, नेत्रादि की सब बनावट की रूपरेखा - मानचित्र जीन्स में और वह भी कितने और कैसे-कैसे मानचित्र, कोई कल्पना नहीं।

प्राणी को जाति, आयु, भोग (सुख-दुःख, यश-अयश, हानि-लाभ) देनेवाला प्रारब्ध या कर्म-संस्कार का प्रवाह अनादि और उसके संस्कारों के वाहक जीन्स के बिना जन्म ही सम्भव नहीं उसका।

भगवान ब्रह्मा को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रयत्न करना पड़ता है। कश्यपजी की विभिन्न पत्नियों से उन्होंने मानव, दानव, देवता, नाग, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, प्रभृति सब उत्पन्न करने की व्यवस्था की। सृष्टि में वैसी कोई विशेष परिस्थिति कहीं आ पड़े तब सृष्टिकर्ता को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

'आप बीच बीच में अदृश्य क्यों होते हैं?' बालक ने संकीर्तन विरमित होने पर पूछा - 'आप तो इस सुयश-कीर्तन के मध्य भी कई बार अदृश्य हुए।'

'धरा पर जब-जब श्रीहरि अवतार लेते हैं, मैं उनके दर्शन कर आता हूँ। उनकी अभ्यर्थना करता हूँ।' ब्रह्माजी ने कहा - 'सृष्टि मेरी है, मेरे गृह के समान। प्रभु पधारे तो मुझे स्वागत सेवा में प्रमत्त तो नहीं होना चाहिये।'

'इतने अल्प क्षणों में ही अवतार होते रहते हैं?' बालक को बहुत विचित्र लगा।

'तुम काल को सत्य मानकर मत बोलो।' ब्रह्माजी ने कहा - 'जैसे तुम्हारे गोलोक से चले वहाँ अभी क्षणार्ध भी नहीं हुआ, वैसे ही इस लोक के क्षणों में धरा की चतुर्युगियाँ बीत जाती हैं।'

'तुम काल की इस सापेक्ष स्थिति को समझते हो।' बालक को सोचते देखकर सृष्टिकर्ता ने समझाया - 'देवताओं, ऋषियों का काल भी मर्त्यधरा के काल से भिन्न है।'

'मर्त्यधरा का काल सबसे छोटा!' बालक ने प्रसन्न होकर ताली बजायी। उसे मर्त्यधरा पर केवल एक चतुर्युगी ही तो रहना है। तब वह इसे बड़े कालवाले ब्रह्मलोक में क्यों बैठा रहे।

'मनुष्यों के काल से भी अत्यल्प काल धरा के क्षुद्र प्राणियों का है।' ब्रह्माजी ने समझाया -'जितने समय में एक दिन मनुष्य का बीतता है, उतने समय में वहाँ अनेक छुद्र प्राणियों की कई पीढ़ियाँ बीत जाती हैं।'

बालक को बहुत क्षुद्र-प्राणियों के काल में कोई रुचि नहीं। उसे मनुष्य की एक चतुर्युगी धरा पर रहना है। उसे मानव काल से प्रयोजन है।

'सब लोक - मेरी सृष्टि के सब लोक मेरे इस लोकपद्म में ही स्थित हैं।' सृष्टिकर्ता ने बालक से कहा - 'काल के समान देश भी सबके अपने-अपने हैं। जैसे उदुम्बर फल के भीतर उत्पन्न पृथ्वी के सूक्ष्म प्राणियों के लिए वह फल ही ब्रह्माण्ड है। देश भी कल्पित है। उसमें सूक्ष्मता-स्थूलता का ही तारतम्य है।

'देश का यह सापेक्षत्व मैं देख चुका हूँ।' बालक सुभद्र अन्ततः पृथ्वी से ब्रह्मलोक आया है।

'तुम यदि धरा पर पुन: पधारने से पूर्व कुछ और लोकों को अपनी चरण-धूलि देते जाते!' ब्रह्माजी ने प्रार्थना के स्वर में कहा - 'धरा से तो तुम्हारे अनुज तुम्हें अपने साथ ले जायेंगे। अन्य इस मेरे ब्रह्माण्ड के लोकों को यह सौभाग्य अभी ही मिले तो मिलेगा। मुझे उपालम्भ देंगे भगवान रुद्र और श्रीविष्णु भगवान भी, यदि तुम उनके यहाँ नहीं जाते।'

जो कर्म-परतन्त्र नहीं आया, जिसे कर्म आगे भी एक निश्चित सीमा तक ही भोग दे सकते हैं, वह अपना मानव-जीवन पृथ्वी पर प्रारम्भ कर देगा, तब भला और किसी भी भोग लोक में क्यों जायगा?

'अम्बा भवानी और श्री सिन्धु-सुता की चरण-वन्दना तो मुझे करनी है।' बालक ने कहा - 'आपकी आज्ञा है तो लोकपालों के भी दर्शन करके तब मर्त्यधरा जाऊँगा।'

प्रलयंकर का प्रेम-

अनन्त विस्तार हिम प्रदेश का, जैसे सृष्टि की सम्पूर्ण सात्विकता सघन हो गयी है। मध्य में केवल एक वट वृक्ष और वह भी इतना विस्तीर्ण कि पृथ्वी पर कोई कल्पना न की जा सके! भारतवर्ष का हिमालय का ही प्रदेश था वह। नन्दा और अलकनन्दा से घिरा हुआ; किन्तु मनुष्य वहाँ पहुँच भी जाय तो उसे हिम और शीत के अतिरिक्त क्या मिलता है।

भगवान रुद्र, उनका मणि-महालय, उनके गण, उनका वटवृक्ष ही क्यों, कुबेर की अलकापुरी और उनके यक्ष भी तो मानव नेत्रों के लिए अदृश्य ही हैं।

बालक भद्र - भद्र पृथ्वी की गणना से ती अनेक चतुर्युगीन वृद्ध है; किन्तु यह अमृतपुत्र धरा से चार वर्ष की आयु में ब्रह्मलोक गया और वहाँ पूरे एक दिन भी तो नहीं रहा है। अभी दिगम्बर शिशु ही है। धरा के कैलाश पर कुछ ऐसा नहीं था जो उसके लिए अदृश्य रहता।

भगवान रुद्र के असंख्य गण थे वहाँ और थे कैसे हैं, कहना नहीं होगा। लेकिन उनमें एक ने भी बालक को डराने का साहस नहीं किया। नन्दीश्वर जिसे प्रथम ही मस्तक झुकावें और गणाधिप जिससे मिलने दौड़ पड़ें, उसे गण केवल दूर से प्रणति दे सकते थे।

'अम्बा तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रही हैं।' अपने पदों में प्रणत होते बालक को लम्बोदर गजवदन मंगलमूर्ति ने आशीर्वाद देकर कहा - 'पिता के समीप वे वटवृक्ष के नीचे ही विराजमान हैं।'

'मैं तो स्वयं आ रहा था।' बालक का तात्पर्य था - 'आपने कष्ट क्यों किया?'

'तुम अम्बा के अंक में पहुँचकर मेरी ओर देखना भी भूल जाओगे।' गणेशजी ने सहास्य कहा -'सृष्टिकर्ता ने मुझे प्रथमपूज्य पद दिया है और अनुज प्रमाद न करे, इसका भी दायित्व अग्रजपर ही होता है। इसलिए मैं अपने आप दौड़ आया कि तुम्हारा प्रथम प्रणाम मुझे प्राप्त हो जाय।'

'आप भी भद्भुत हैं।' बालक ताली बजाकर हँसा - 'मैं कहाँ कोई शुभारम्भ करने जा रहा हूँ कि आदिपूज्य को स्मरण करूँ। आप यह नहीं कहते कि अनुज का स्नेह आपको दौड़ा लाया।'

'तुम मेरे मूषक पर बैठोगे?' गणेशजी को प्रसंग-परिवर्तन उचित लगा। वे बुद्धि के अधीश्वर जानते हैं कि कन्हाई के सखा कितने नटखट होते हैं। यह तुम्हें गिरायेगा नहीं और वेगपूर्वक दौड़ सकता है।'

'मूषक कोई अच्छा वाहन नहीं। इसे बिल दीखा तो प्रवेश करने में विलम्ब नहीं करेगा। आप ही इस पर अच्छे लगते हैं। बालक कह गया - 'मैं न मयूर पर बैठकर उड़ना चाहूँगा और न वृषभ मुझे बैठने योग्य लगता। बैठना ही होगा तो अम्बा का केशरी कहीं गया है?'

'तुमको कोई अस्वीकार नहीं करेगा; किन्तु तुम यहाँ रुक गये तो देखो अम्बा स्वयं आ रही हैं।' गणेशजी ने संकेत कर दिया।

'हाँ - अब ठीक है।' भगवती उमा ने ललककर अंक में उठा लिया तब बालक ने गणेशजी की ओर देखा - 'मैं क्यों दूसरा वाहन बनाऊँ? मुझे कहीं जाना होगा तो अम्बा अंक में लेकर पहुँचा देंगी।'

'बहुत नटखट है।' उन शैलसुता ने सहास्य कहा - 'मुझे वाहन बना रहा है।'

बालक को कोई कौतूहल नहीं था वहाँ के मणि-सदन को देखने का। वटवृक्ष के समीप पहुँचते ही स्वयं अम्बा के अंक से उतरकर उसने भगवान नीलकण्ठ के चरणों पर मस्तक रखा।

'कल्याणमस्तु!' उन आशुतोष ने अपना अभय कर उसकी अलकों पर रखा।

'बाबा आप तो बहुत अच्छे हैं' बालक ने पूछा - 'क्यों लोग कहते हैं कि आप भयानक हैं और प्रलय करते हैं?'

'भयानक तो मैं हूँ। मेरे तीन नेत्र जो हैं।' भूतनाथ प्रभु सस्मित कह रहे थे - 'कहीं उत्सव हो जाता है या मेला समाप्त होता है तो अन्त में वहाँ स्वच्छता आवश्यक हो जाती है। सृष्टि का महोत्सव समाप्त हो जाता है तब मैं स्वच्छ कर देता हूँ देश और काल को भी।'

'तब सदा संहार कौन करता है?' बालक ने इधर-उधर देखा। उसे तो त्रिशूल भी दूर गड़ा दीखा। संहार-मृत्यु का कोई भी उपकरण तो वहाँ नहीं था।

'मैंने भूत-प्रेत, प्रमथ-पिशाच सृष्टि के प्रारम्भ सें ही बना दिये। रोग-व्याधि के सब देवी-देवता मेरे गणों में हैं।' भगवान नीलकण्ठ ने कहा - 'इनको भी कह दिया है कि बहुत उत्पात न करें। केवल तब इनको सक्रिय होने का अवकाश है, जब प्राणी प्रमाद करे। लेकिन प्रमादहीन रहकर कोई ही अमरत्व को प्राप्त कर पाता है। अधिकांश तो परमायु से भी पूर्व स्वयं मरण-शरण होते हैं।'

'बाबा! तुम तो समाधि में ही बैठे रहते हो।' बालक ने कुछ नहीं पूछा ।

'जन्म के साथ मृत्यु लगी है। सक्रियता के साथ ही संक्षय है। अणु उत्पन्न होने के साथ शक्ति का उत्सर्ग करने लगता है।' प्रभु ने स्वयं समझाया - 'मृत्यु एक दिन नहीं आती। वह तो कण-कण के साथ क्षण-क्षण लगी है। मैंने अपने सब गणों कों संकेत कर दिया है कि इन्हें शीघ्रगामी नहीं होना चाहिये। तमोगुणी होने से ये सब वैसे भी सुस्त हैं। सृष्टिकर्ता को सृष्टि गति से मन्द पद ये न चलें तो सृष्टि बची कैसे रहेगी।'

'आप यहाँ रहते हैं अम्बा के साथ?' अब बालक की दृष्टि चारों ओर के हिम-प्रदेश पर गयी।

'यह तुम्हारी अम्बा का पितृगृह है।' श्रीचन्द्रचूड़ ने भगवती उमा की ओर देखा - 'भारत धरा पर इन्होंने काशी में आवास बना लिया है और अधोलोको में से एक लोक ही है। वैसे इलावर्त....'

'आप बालक को क्यों व्यर्थ भटकने को उत्सुक बनाते हैं।' देवी ने बीच में ही किञ्चित् लज्जापूर्वक कहा। अन्ततः इलावर्त पुरुष-प्रवेश वर्ज्य प्रदेश है। साम्ब-शिव की विहार भूमि और अधोलोक वितल भी। बालक कहीं मचल पड़ा - इसे न वारित किया जा सकेगा और न शाप की शक्ति इसका स्पर्श करेगी।'

'तुम एक भ्रम में दीखते हो।' भगवान ने प्रसंगान्तर किया - 'तुम जिन महेश्वर से परिचित हो, जो तुम्हारे गोलोक पधारते हैं, मैं उनसे अभिन्न होकर भी उनका अंश हूँ। उन निखिल ब्रह्माण्ड विधायक का छुद्र अंश। केवल इस वामन ब्रह्माण्ड का रुद्र।'

'इन ब्रह्माण्डों के भी नाम होते हैं?' बालक को कुतूहल हुआ।

'जब अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तो तुम्हारे सखा बिना नाम के उन्हें कैसे पहिचानेंगे।' बालक को यह बात ठीक लगी। बहुत गायों में भी किसी को पुकारने के लिए उसका नाम लेना पड़ता है। नाम तो उसके सखाओं के भी हैं। 'लेकिन इस ब्रह्माण्ड का नाम केवल मुझे ज्ञात है। सम्भव है ब्रह्माजी को भी ज्ञात हो और विष्णु भगवान तो इस नामकरण के कारण ही हैं। वामनावतार में विराट बनकर उन्होंने इतना ऊपर चरण बढ़ाया कि उनके पादांगुष्ठ के नलाघात से ब्रह्माण्ड का बाह्यावरण तनिक फट गया। उसी से तुम्हारे दिव्यलोक का ब्रह्मद्रव इस ब्रह्माण्ड में आकर सुरसरि कहलाया। वामन के नख से आवरण फटने से ब्रह्माण्ड का नाम वामन पड़ा।'

'आज तो समाधि में नहीं बैठे आप?' बालक के प्रश्नों में क्रम कहाँ होता है।

'समाधि तो इनका सहज स्वरूप है।' इस बार अम्बा बोली - 'संहार की केवल प्रलयकाल आने पर सूझती है। एक साथ सब मिटा देते हैं; लेकिन समाधि कहाँ दीर्घकालीन होती है। जब-जब श्रीहरि पृथ्वीपर पधारते हैं........।'

'ब्रह्माजी के समान प्रभु भी कुछ क्षणों के अन्तर से यहाँ अदृश्य होते रहते हैं?' इस बार बालक बीच में ही पूछ बैठा।

'अकेले तो बहुत कम जा पाता हूँ।' भगवान ने कहा - 'मैं अर्धनारीश्वर हूँ। अत: तुम्हारी ये अम्बा प्राय: साथ जाती हैं और अनेक बार उत्सुक गणों को मैं रोक नहीं पाता।'

'इन भूत-प्रेतों को आप क्यों पालते हैं?' बालक का यह प्रश्न सम्भव है आपका प्रश्न भी हो।

'इनको कहीं तो शरण चाहिये।' आशुतोष करुणामय ने कहा - 'इनके आकार और स्वभाव किसी को भी प्रिय नहीं लगते। कोई इन्हें प्रसन्नतापूर्वक समीप नहीं रखना चाहता।'

'बाबा! आपका एक गण था न, वह बड़ा भारी कूष्माण्ड?' बालक को अकस्मात इस चर्चा में स्मरण आ गया।

'गण तो वह महेश्वर का बन चुका था।' उन दयामय का स्वर भी रूक्ष हो गया - 'तुम उसकी चर्चा ओर स्मरण मत करो। उसे भटकने दो इस ब्रह्माण्ड के भुवर्लोक में।'

'तुमको भगवान नारायण के भी तो दर्शन करने हैं!' भगवान शंकर को लगा कि यह सुकुमार यहाँ से सीधे भुवर्लोक भी दौड़ जा सकता है, अतः यह चर्चा उठा दी 'तुम उनसे कहाँ मिलोगे?'

'कहाँ मिलेंगे वे?' बालक ने पूछा।

'केवल ब्रह्माजी अपने लोक में रहते हैं।' भगवान विश्वनाथ ने बतलाया - 'जैसे मैं यहाँ, काशी, इलावर्त और वितल में भी रहता हूँ, वैसे भगवान विष्णु के भी कई लोक हैं। रमाबैकुण्ठ, क्षीरसागर, पाताल, श्वेतद्वीप और सूर्यमण्डल।'

'मैं सब देखूँगा।' बालक की उत्सुकता उसकी अवस्था के अनुरूप ही थी। वह तो उसी क्षण उठ भी पड़ा।

देवर्षि दीखे-

अच्युतं केशवं रामनारायणं
कृष्ण दामोदर वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं
जानकीनायक रामचन्द्र भजे।।

सुभद्र को चौंकने का भी अवकाश नहीं मिला। वीणापाणि देवर्षि नारद उसके सम्मुख आकर खड़े हो गये। ऐसा लगा कि ज्योतिराशि ही सघन होकर देवर्षि की देह बनी है।

वहाँ न कोई आधार था और न उसे आकाश ही कह सकते। अन्तरिक्ष अधिकतम उपयुक्त शब्द है।

'भगवन्! यह कौन-सा लोक है?' सुभद्र ने प्रणाम करने के अनन्तर पूछा। जब देवर्षि वहाँ हैं तो कोई लोक होना चाहिये।

'कोई लोक नहीं।' देवर्षि सस्नेह बोले - 'वत्स! जो दीख पड़े वह लोक (लोक्यन्तेऽति लोका:) लेकिन यहाँ तुमको मेरे अतिरिक्त कुछ दीख पड़ता है?'

'हम दोनों शून्य में हैं?' सुभद्र के प्रश्न का अर्थ था कि शून्य में हमारी स्थिति कैसे सम्भव हुई?

'शून्य कहीं कुछ नहीं है।' देवर्षि ने समझाया - 'निर्गुण निराकार निर्विकार परम ब्रह्म ही परिपूर्ण है, अद्वितीय है। किन्तु निर्गुण में अन्य सत्ता सम्भव नहीं। अपनी अचिन्त्य योगमाया से वही सगुण-निराकार भी है। उसी में सविशेष सत्ता की प्रतीति होती है। तुम इस प्रकार समझो कि हम दोनों ईश्वर में हैं।'

'ईश्वर में हैं?' बालक सुभद्र ठीक समझ नहीं पा रहा था।

'यहाँ माया की तो सत्ता नहीं है। माया का ही दूसरा नाम प्रकृति। उससे उत्पन्न, उससे स्थूल महत्तत्व और उससे स्थूल अहं-तत्त्व। इस अहं के तामसांश से व्योम।' देवर्षि ने कहा - 'तुम व्योम को ही अन्तरिक्ष कहते हो।'

'हम ईश्वर में कैसे हैं?' बालक अभी भी समझ नहीं पा रह था।

'तुम जैसे कैलाश में भगवती उमा के अंक में थे और वही तुम्हें कुछ दूर ले गयी थीं, देवर्षि ने सीधा ढंग अपनाया - 'वैसे ही

हम दोनों ईश्वर में हैं। वही हमारा आधार है और हम जैसा चाहते हैं, वैसा हमें प्रतीत करा देता है।'

'हूँ, तब यह कन्हाई है। बालक हँस पड़ा - 'इतना नटखट वही है कि पास रहकर भी छिपा रहता है। खटखुट भी करता रहता है और अपना पता भी नहीं लगने देता।'

'है तो वही; किन्तु निराकार बना हुआ है।' देवर्षिने कहा - 'हम-तुम दोनों के देह, हमारी सत्ता भी वही है।'

'मेरी देह भी?' सुभद्र ने अपना उदर छूकर देखा।

'तुमने जब पृथ्वी से ब्रह्मलोक पहुँचने की इच्छा की, तुम्हारा वह प्राकृतिक-पाञ्चभौतिक देह तो अणुओं में बिखर कर अदृश्य हो गया।' देवर्षि ने कहा - 'तुम्हें तत्काल यह दिव्य देह मिला। इसमें न क्षुधा-पिपासा है, न श्वास-प्रवास है। इस चिन्मय वपु में व्यवहार की केवल प्रतीति है।'

'हम किस देश में यहाँ हैं?' बालक ने फिर पूछा।

'ईश्वर में हैं।' देवर्षिने फिर वही उत्तर देकर समझाया - 'देश और काल मुझे विवश नहीं करते। इस समय तुम भी मेरी ही स्थिति में हो। हम दोनों का देश-काल हमारी इच्छा के वश में है। जहाँ जिस देश-काल में उपस्थित होना चाहेंगे, उसमें ही अपने को देखेंगे, तब उस देश-काल में स्थित लोगों के साथ व्यवहार कर सकेंगे।'

'मैं पुन: पृथ्वी पर लौट जाना चाहूँ तो?' बालक ने जिज्ञासा की।

'लौट सकते हो; किन्तु केवल दो प्रकार से।' देवर्षि ने समझाया - 'इस दिव्य देह से धरा पर जाओगे तो केवल शुद्ध सात्विक अधिकारी ही तुम्हें देख सकेंगे। उन्हीं से सम्पर्क हो सकेगा। वह भी अधिक समय बनाये रखना तुम्हें स्वयं अप्रिय होगा। तुम्हारी वहाँ उपस्थिति सृष्टिकर्ता के विधान में व्याघात ही बनेगी।'

'यह मैं नहीं करूँगा।' ब्रह्माजी को दिये अपने वचन वह विस्मृत नहीं हुआ है।

'तब किसी सत्पुरुष के वीर्य का आश्रय लेकर किसी माता के उदर से जन्म लेना पड़ेगा।' देवर्षि ने स्पष्ट कहा - 'पाञ्चभौतिक देह प्राप्त करने की यही प्रक्रिया है। यद्यपि उस देह में भी तुम्हारी अधिकांश दिव्य शक्तियाँ तुम्हारे पास रहेंगी। जब तक तुम वहाँ कहीं आसक्त नहीं होते, तुम स्वतंत्र हो। कर्म तुम्हें परतन्त्र कर नहीं सकता। लेकिन तुम तो नारायण के समीप जाना चाहते हो?'

'नारायण सदा जल में ही डूबे रहते हैं?' बालक को स्मरण आया कि नार शब्द का अर्थ जल है।

'मेरा नाम भी तो नारद है। तुम्हें क्या आशा है कि मैं लोगों को पानी पिलाता घूमता होऊँगा?' नारदजी हँसे - 'नार का दूसरा अर्थ ज्ञान है। मैं ज्ञानदाता होने से नारद हूँ और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञानैकगम्य होने से भगवान नारायण हैं।'

'वे पानी में नहीं रहते?' बालक को देवर्षि की व्याख्या प्रिय तो लगी; किन्तु वह पूरा स्पष्टीकरण चाहता था।

'वे क्षीराब्धिशायी हैं-गर्भोदशायी हैं और उनका श्वेतदीप भी समुद्र के मध्य में ही है। शेषशायी बनकर पाताल में भी वे सागर में

ही रहते हैं।' नारदजी ने कहा - 'किन्तु वे रमावैकुण्ठ बिहारी भी हैं और सूर्यमण्डल में तो वे अग्नि के भीतर आसन लगाये हैं।'

बालक सोचने लगा कि इनमें से वह पहिले कहाँ जाय; क्योंकि एक बार इन सब रूपों में श्रीहरि को देखने का संकल्प उसका अभी शिथिल नहीं हुआ था।

'तुम चाहो तो श्वेतद्वीप मेरे साथ चल सकते हो।' देवर्षि ने स्वयं प्रस्ताव किया 'मुझे तो घूमते रहने का व्यसन है। कहीं किसी एक स्थान पर मैं केवल दो घड़ी रुक पाता हूँ। मुझे दक्ष के शाप ने परिव्राजक बना दिया है।'

'आप मुझे सब विष्णुलोक और दूसरे लोक भी घुमा नहीं देंगे।' बालक ठीक सोचता है कि जब देवर्षि को घूमते ही रहना है तो इनका साथ क्यों न कर लिया जाय।

'इससे तुम्हारी यात्रा अपूर्ण रह जायगी।' देवर्षि को एकाकी रहना प्रिय है। वे क्यों किसी को साथ लगावें - 'तुम्हें उन लोकों की सहज स्थिति में देखने का सुयोग नहीं मिलेगा। सबको मेरा सत्कार करने की पड़ती है, जब मैं किसी के यहाँ पहुँचता हूँ।'

'उन्हें मेरा समाधान करने का भी अवसर नहीं मिलेगा।' बालक को भी एकाकी यात्रा ही उत्तम जान पड़ी। देवर्षि के साथ वह केवल श्वेतद्वीप जायगा।

विष्णु की व्यापकता-

आपने सुना हैं -

**'शुक्लाम्बरधरं विष्णु शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेद् सर्वेविघ्नोपशान्तये।।'**

श्वेतवर्ण, चतुर्भुज, श्वेत वस्त्रधारी स्वयं भगवान और उनका निवास श्वेतद्वीप। श्वेत भी सब हिम या कपास जैसा नहीं। सब ज्योतिर्मय, सुखद, शीतल ज्योति। उसमें आकृति की प्रतीति केवल ज्योति के तारतम्य से।

सब शान्त। ऐसा शान्त जैसे निष्क्रियप्राय हो। केवल विशुद्ध। सत्त्वगुण का घनीभाव! एकमात्र उपासना ही वहाँ का जीवन। प्रेम ही वहाँ प्राण। श्रीनारायण के साथ वहाँ लक्ष्मी भी नहीं।

वहाँ बोलने, चलने की जैसे प्रवृत्ति भी है तो स्तवन, परिक्रमा मात्र के लिए और अनन्त गाम्भीर्य लिये।

देवर्षि वहाँ पहुँचते ही शान्त हो गये। मूक हो गयी उनकी वीणा। वे अपलक स्थिर दर्शन करते रहे। वहाँ वे जब आते हैं,

दर्शन ही करने आते हैं। यहाँ आकर बोलने की वृत्ति ही नहीं रह जाती।

सुभद्र न धरा का और न ब्रह्मलोक का। यह बालक गोलोक का। अतः इस पर जैसे कहीं का प्रभाव पड़ता ही नहीं। इसका सहज स्वभाव आच्छन्न नहीं होता।

'बाबा! यहाँ दधिभाण्ड में तैरती नवनीत की बूंदों जैसे ही सब हैं?' नारदजी का हाथ हिला दिया उसने - 'केवल चमकती बूदें लगते हैं।'

'वत्स!' जलदगम्भीर स्वर सुन पड़ा। जैसे अमृत ही स्वर बन गया हो। देवर्षि तो मौन शान्त खड़े थे; किन्तु बालक को भगवान नारायण ने स्वयं उठकर अपनी विशाल भुजाओं में उठा लिया।

'बाबा! आप?' बालक को लगा कि उसे प्रणाम करना चाहिये थीं; किन्तु अब तो वह अंक में पहुँच चुका था।

'सृष्टिकर्ता और प्रलयंकर के समान पालक कोई व्यवस्था करके पृथक नहीं बैठ सकता।' भगवान ने स्वयं समझाया - 'पालनकर्ता को सदा साथ रहना पड़ता है। अत: मैं प्रत्येक

अंत:करण में अन्तर्यामी रूप में रहता हूँ। पल-पल सम्हालता रहता हूँ प्रवृत्ति के क्षेत्र में प्राणी को।'

'यहाँ आप कुछ करते हैं?' बालक का स्वभाव तो तुम कहने का है; किन्तु ये शशिवर्ण नारायण उसे अपरिचित लगते थे। इनसे संकोच होता था उसे।

'यह समष्टि के विशुद्ध अन्तकरण को तुम देख रहे हो।' नारायण भगवान् ने बतलाया - 'विशुद्ध होने पर सत्व श्वेत ज्योतिर्मय होता है। अत्यन्त विशुद्ध अन्त:करण प्रेमैक प्राणों का मैं यहाँ पोषण करता हूँ। लेकिन तुम्हें मेरे प्रतिपालक रूप को देखना है, तब सूर्यमण्डल में उसका साक्षात् करो।'

सुभद्र को पता नहीं कि देवर्षि कब तक श्वेतद्वीप में वैसे ही स्थिर खड़े रहे। उसे श्रीनारायण के अंक से उतरने का भी अनुभव नहीं हुआ। उसे लगा केवल यह कि उसके चारों ओर अत्यन्त प्रचण्ड तेज - अत्युग्र ज्वाला है। ऐसी ज्वाला जिसमें पाषाण, लौह पलक झपकते भस्म हो उठे; किन्तु उसे वह उष्णता सुखद लगती है।

वह अब भी नारायण के अंक में ही है; किन्तु नारायण गगननील, विद्युदवसन चतुर्भुज हैं। ये कमललोचन अरुणपद्म पर आसीन हैं उसे अंक में लेकर। ऐसा लगता है कि ये किसी रथ पर बैठे हैं। इनका अत्यरुण सारथी इनके आगे बैठा है।

'वत्स! उष्णता ही जीवन है।' भगवान ने कहा - 'गति, शक्ति, प्रकाश उष्णता के ही पर्याय हैं। सृष्टि रहेगी ही नहीं, यदि रजोगुण उसे सक्रिय न रखे। शुद्ध रजस का केन्द्र यह मेरा सूर्यमण्डल।'

'बाबा! सुना कि आपके इसी धाम से प्राणी मुक्त होता है।' बालक ने पूछा - 'कौन आते हैं यहाँ आपके समीप?'

'निरुद्धवृत्ति समाधि से शरीर त्याग करने वाले योगी और धर्मयुद्ध में सम्मुख मरण को वरण करनेवाले शूर।' भगवान सूर्य नारायण ने समझाया - 'देहासक्ति ही बन्धन है। शरीर की आसक्ति का मूलोच्छेद हो गया तो मनुष्य मुक्त तो हो ही गया। यहाँ आकर उसका आकार का मोह भी भस्म हो जाता है।'

'मेरा ही एक नाम हिरण्यगर्भ है।' भगवान सूर्य ने स्वयं बतलाया - 'मेरे इस मंडल का ही एक पृष्ठ ब्रह्मलोक है। तुम मेरे समीप वहाँ पहुँच चुके हो। सृष्टि में जीवन की सृष्टि मेरी रश्मियों

की उष्णता ही करती है और मैं यहाँ इस रूप में अपनी ऊष्मा से पोषण करता हूँ। प्राणियों के नेत्रों का अधिदेवता होकर उन्हें प्रकाश देता हूँ।'

'इतना तेज, इतना उग्र प्रकाश?' बालक को सन्देह हुआ।

'तुम ठीक सोचते हो।' सूर्य भगवान ने कहा - 'प्रलयंकर भी मैं ही हूँ। रुद्रलोक मेरा दूसरा पृष्ठ है। रुद्र भी मेरा ही रूप है। मैं उन शिव की एक मूर्ति हूँ; किन्तु वह रूप पूर्ण सक्रिय प्रलय के समय होता है। सृष्टि के सञ्चालन-पालन के लिए ऊर्जा का उद्गम हूँ मैं और ऊर्जा उग्रतेज का ही दूसरा नाम है।'

'तुम्हारे सुकुमार शरीर और नवनीत मृदुल स्वभाव के अनुरूप यह लोक नहीं है।' भगवान् सूर्य ने स्वत: इसे लक्षित किया था, अत: कहा - 'तुमको क्षीराब्धि प्रिय लगेगा। वहाँ तुम सिन्धु-सुता का स्नेह प्राप्त कर सकोगे।'

'अम्बा यहाँ भी नहीं हैं?' बालक ने पूछना चाहा था; किन्तु उसे अवकाश नहीं मिला। उसे अन्यत्र भेजने से पूर्व केवल वात्सल्यसिक्त भगवान् सूर्य ने कहा था - 'धरापर तुम मेरे कुल में आओगे तब मैं ही तुम्हें तुम्हारे सखा के समीप पहुँचाने की

प्रेरणा-माध्यम बनूँगा। निखिल बुद्धिवृत्ति का मैं प्रेरक हूँ, यह शक्ति सार्थक हो जायेगी तुम्हें प्रेरित करके।'

'आहा!' बालक उल्लसित हो उठा अनन्त अपार दुग्धसिन्धु देख कर। उत्ताल तरंगायमान क्षीरोदधि के अन्तराल से स्निग्ध ज्योति जैसे प्रकट हो रही थी।

वहाँ अपार विस्तीर्ण सौध था; किन्तु उसे दुग्ध तरंगों ने ही निर्मित किया था। उसमें तरंगें ही भूमि, स्तम्भ, छत आदि सब थी और उस सौध में सज्जा थी। कहना कठिन था कि ज्योतिर्मय मुक्ता-लड़ियाँ लटक रही थीं या नवनीत के उज्ज्वल बिन्दु सजे थे।

कमलतन्तु श्वेत सहस्त्र फण उठाये भगवान् शेष स्थिर थे। उनके मस्तक की मणियों के प्रकाश से दुग्धराशि अत्यधिक उज्ज्वल हो रही थी।

उस दुग्ध सौध में, उन उज्जवल शेष की सुदीर्घ कुण्डलीभूत देह पर एक घनश्याम, पीताम्बरधारी, रत्नमुकुटी, चतुर्भुज मन्द-मन्द मुस्कराते चरण फैलाये आधे लेटे थे।

'अम्ब!' उन परमपुरुष के प्रफुल्ल पद्म पादारविन्दों को अंक में लिये जो सौन्दर्य, सौष्ठव, सौकुमार्य की अधिदेवता सिन्धुसुता विराजमान थीं, उन्हें देखते ही बालक ने पुकारा और भुजाएँ फैलाकर दौड़ा उनकी ओर।

'वत्स!' उन श्री ने भी परमपुरुष के चरण अंक से नीचे रखे और ऐसे दौड़ीं दोनों कर फैलाये जैसे केवल आतुर जननी दौड़ सकती है।

'तुमने मुझ अजातपुत्रा को पुत्रवती बताया।' उसे अंक में लेकर सिन्धुतनया की वाणी गद्गद हो उठी। उनका वक्षावरण भीगने लगा वात्सल्य की धारा से। उन्होंने ही उसका मस्तक शेषशायी के श्रीचरणों से स्पर्श कराया।

'बाबा तुम यहाँ दूध में सोते हो?' बालक को यहाँ तनिक भी संकोच नहीं लगा। उसे लगता था कि उसका नटखट कन्हाई ही यहाँ इतना बड़ा बनकर लेट गया है। उन अनन्तशायी का श्रीअंग अनेक स्थानों पर दुग्ध एवं नवनीत विन्दु पड़ने से चन्दन-चर्चित लग रहा था। बालक सहज भाव से शेष की कुंडली पर आगे बढ़ गया और उदर देश पर पड़ी नवनीत की बूँद को अपने नन्हें कर से फैलाता बोला।

'यह किञ्चित् रजोमिश्रित सत्वधाम है।' अनन्तशायी समझाने लगे स्नेहपूर्वक - 'सृष्टि के सब शिशुओं को उत्पन्न होने के साथ दूध चाहिये। उनकी माताओं के स्तनों में दूध उनका स्नेह बनता है। यह सागर उस वात्सल्य स्नेह की समष्टि और शिशु बड़े होते हैं, तब उन्हें शोभा, सम्पत्ति, सुयश देकर पालन करने वाली तुम्हारी ये अम्बा।'

'करते सब ये आदिपुरुष हैं।' भगवती श्री ने कहा - 'इनका अनुकम्पापूर्ण दृष्टिपात पाये बिना मैं कुछ कर नहीं पाती। वैसे ये सहज निष्क्रिय ही दीखते हैं।'

पुरुष तो भोक्ता ही रहता है। लेकिन उसका भोक्तापन भी भ्रम है। वह केवल द्रष्टा है। उसकी प्रसन्नता के लिए परमेश्वरी प्रकृति का सम्पूर्ण सम्भार है।

'अनन्त ब्रह्माण्डों के पालन में तुमको श्रम नहीं होता?' बालक ने श्री की ओर देखा।

'ये परमपुरुष और मैं भी केवल इस ब्रह्माण्ड के पालक-पद पर हैं।' रमा ने स्नेहपूर्वक कहा - 'तुम परम पालक के समीप भी पहुँच सकते हो। हम तो उनके अंश हैं।'

बालक को कुछ विशेष अनुभव नहीं हुआ। वह क्षीराब्धिशायी के समीप से गर्भोदशायी महाविष्णु के समीप पहुंच गया है, यह भी उसने अनुभव नहीं किया। उसने ध्यान ही नहीं दिया कि अब तक जिनके समीप है वे अष्टभुज हैं।

अवश्य ही वहाँ सूर्यमण्डल से भी अनेक गुणित अधिक प्रकाश है; किन्तु वैसा उग्र नहीं। बहुत सौम्य, शीतल भी नहीं श्वेतदीप के समान और उग्र भी नहीं।

'अम्ब!' बालक ने उन भूमापुरुष के चरणों के समीप आसीना सिन्धुतनया की ओर देखा - 'तुम इन परमपुरुष के समीप ही बैठी रहती हो?'

'मैंने कभी तुम्हारी उपेक्षा की है?' भगवती श्री ने स्नेहपूर्वक देखा - 'मैं तो इनसे परांमुखों की भी उपेक्षा नहीं करती। लेकिन मेरी प्रीति का प्रसाद पीड़ा तो नहीं होना चाहिये।'

'अम्ब, तुम किसी को पीड़ा दे कैसे सकती हो।' बालक को अपनी दयामयी अम्बा पर विश्वास है - 'तुम तो केवल स्नेहमयी हो।'

'क्या करूँ, बालक मचलते हैं तो मुझसे देखा नहीं जाता। मैं दौड़ जाती हूँ उन तक। इसी से इन्होंने मेरा नाम चंचला रख दिया है। परमपुरुष की ओर तनिक कटाक्षपूर्वक देखा उन सिन्धुतनया ने - 'लेकिन वे अज्ञ मेरे प्रसाद का दुरुपयोग करते हैं। ऐन्द्रियक भोग में लगकर रोग, अशान्ति, अध:पतन को आमन्त्रण देते और भव में भटकते हैं।'

'इसी से मैं इनका प्रसाद अर्थात् सम्पत्ति अपने प्रिय जनों तक कम ही पहुँचने देता हूँ। तुम तो जानते हो कि इनका वाहन उलूक है।' इस बार परम पुरुष सहास्य बोले - 'इनकी कुछ खटपट है भगवती वीणाधारिणी से। अतः ये जाती हैं तो अहंकार दे आती हैं और वे दिव्या दूर चली जाती हैं।'

'अम्ब! आप दौड़ दौड़कर इतना श्रान्त होती हैं।' बालक में अपनी अम्बा से सहानुभूति जागी - 'आप यहीं अच्छी हैं।'

'मैं कहाँ देवी सरस्वती से द्वेष करती हूँ। मैं तो उनके आश्रित की भी पालिका हूँ।' भगवती श्री ने परमपुरुष के कटाक्ष का प्रतिवाद किया - 'मेरी सचमुच प्रीति वे पाते हैं जो इन पुरुषोत्तम के चरणाश्रित हैं। मैं स्वयं इनके श्रीचरणों को छोड़कर कहीं नहीं जाती। इन्होंने मेरे लिए एक लोक ही बना दिया है।'

'अम्ब! वह तुम्हारा आनन्द लोक है?' बालक ने पूछा।

'तुम्हारे लिए अगम्य नहीं है।' भगवती श्री का यह कहना पर्याप्त था। बालक भूमापुरुष के समीप से रमा-बैकुण्ठ पहुँच गया।

सौभाग्य की बात कि रमा-बैकुण्ठ में दिन का समय था। रात्रि होती तो भगवती रमा के साथ केवल गन्धर्व कन्याएँ दीखती। इस समय वे गन्धर्वों के साथ परमपुरुष की अर्चा में लगी थी।

'अम्ब! यहाँ क्या करती हो तुम?' बालक बिना संकोच समीप पहुँच गया।

'बड़ी तीव्र इच्छा थी अपने इन आराध्य की अर्चा करने की। इन्होंने मेरे लिए यह लोक ही बना दिया। मैं यहाँ अहर्निशि इनकी अर्चा करने को स्वतन्त्र हो गयी। यहाँ और कोई कार्य मेरे पास

नहीं।' भगवती लक्ष्मी ने कहा - 'किन्तु मुझे अर्चा से न तृप्ति होती है न सन्तोष। तुम अच्छे आ गये। तुम तो मायातीत लोक के हो, तुम कुछ बतलाओगे?'

'अम्ब, यह लोक तो आपका उपासना मन्दिर है।' बालक को लगा कि मन्दिर में अधिक देर रहना अच्छा नहीं। अर्चकों को वहाँ रहना चाहिये। 'हम सबों को भी कन्हाई को सजाने में कभी सन्तोष नहीं होता।'

भक्ति में-प्रीति में, सेवा में सन्तुष्टि तो तब हो जब इनकी सीमा होती हो। लेकिन यहाँ अम्बा अर्चा में लगी रहती हैं तो बालक को यहाँ से विदा होना चाहिये या मौन बैठना चाहिये।

सौम्य शेष-

अनन्त भगवान, इन्हीं को शेष कहते हैं। अवश्य ये संकर्षण के, दाऊदादा के अंश हैं; किन्तु यही तो आकर्षण की सत्ता हैं, अत: ये संकर्षण हैं।

कमलतन्तु श्वेत, वैसे ही चमकते और पारदर्शी न होनेपर भी पारदर्शी-जैसे लगते सहस्त्र फण शेष। अनन्त आकर्षण की जो सत्ता हैं, धरा उनके ही एक सिर पर, एक धारा पर तो धरी है। शेष को साकार पाने का प्रयत्न मानव करे तो उसकी मूर्खता होगी। समुद्र के अधिदेवता वरुण को या अपने गृह-देवता को ही देख पाता है वह? भगवान शेष आकर्षण शक्ति के अधिदेवता हैं, यह सीधी बात भी मनुष्य समझता नहीं।

सुभद्र तो पार्थिव शरीरी सामान्य शिशु नहीं था। वह पाताल पहुँचा इच्छा करते ही। भावदेह ही तो भावलोक पहुँचता है।

जिनके एक सिर पर सरसों के दाने के समान धरा धरी हैं, उनके सिर का विस्तार आप सोच लें। वैसे सहस्त्र फण और उन फणों में ज्योतिर्मय मणियाँ, प्रत्येक सिर में मणियों के समान ही जलती दो-दो आँखें और लप-लपाती मुख से निकली दो दो

जिह्वाएँ। लेकिन अत्यन्त शान्त, स्थिर भगवान् शेष। उनके शरीर में कम्प का नाम नहीं।

नाग कुमारियाँ उन अनन्त के उज्जवल सुचिक्कन शरीर में अंगराग लगाने में तन्मय थीं। कुछ ऋषि समीप स्तुति कर रहे थे। स्वयं भगवान् शेष गायन कर रहे थे। हरिगुण गान ही उनका परमप्रिय व्यसन है।

'दादा!' सुभद्र प्रसन्न हो गया। उसे कुछ ऐसा लगा कि यह नाग देह तो आवरण है। इसमें स्पष्ट गौरवर्ण, नीलवसन, एक कर्ण में कुण्डल पहिने, कन्धे पर अष्ट धातु का हल धरे उसके अपने दाऊ दादा बैठे हैं। वह पुकारकर भी दौड़ नहीं सका। उसने देखा कि जैसे दादा के अंक में उसका कन्हाई ही लेटा है।

कन्हाई तो चतुर्भुज नहीं है। यह तो भूमापुरुष जैसे कोई हैं; किन्तु अष्टभुज नहीं हैं। ये पीताम्बर पहने, अधलेटे भले कन्हाई जैसे हैं; किन्तु चतुर्भुज हैं।

'तुम समीप नहीं आओगे?' भगवान् शेष ने स्नेहपूर्वक पुकार लिया - 'इतनी दूर क्यों रुक गये? देख ही रहे हो कि मैं हिल नहीं सकता।'

'दादा! तुम यहाँ क्या करते हो?' वह समीप पहुँचकर उन नीलवसन संकर्षण का हाथ पकड़कर बोला - 'ऐसे बिना हिले ऊबते नहीं?'

सहस्त्रफण शेष का संगीत चलता रहा। नाग कुमारियों की ओर उसने देखा नहीं और स्तुति करने वाले ऋषि-मुनियों की ओर तो उसकी पीठ हो गयी थी। केवल संकर्षण के अंक में लेटे सुकुमार नीलसुन्दर को वह बार-बार देख लेता था।

'तुम विष्णुलोक ही तो देखने निकले हो।' उन नीलसुन्दर ने इस बार कहा - 'मुझे पहिचान लो और अपने इन दादा को भी। पालक को धारण-पोषण दोनों करना पड़ता है। क्षीराब्धि में मैं पोषणकर्ता हूँ और यहाँ हम दोनों धारक हैं। धारक को निष्कम्प तो रहना ही पड़ता है। मैं दादा के अंक में स्थिर न रहूँ तो ये उग्र हो उठते हैं। उनकी फूत्कारें ज्वालामुखी बनकर फूटने लगती हैं। इनके रोष से रुद्र प्रकट हो जाते हैं और त्रिशूल उठाये प्रलय करने दौड़ पड़ते हैं।'

'तुम चतुर्भुज हो गये; किन्तु तुम्हारा नटखटपन गया नहीं।' सुभद्र हँसने लगा - 'दादा कितने तो सौम्य हैं और तुम इनको दोष दे रहे हो।'

'भद्र! ये समीप रहते हैं तब में इनको देखने में अपने-आपको भूला रहता हूँ।' संकर्षण ने ही कहा - 'इनको देखने से तृप्ति ही नहीं होती। वैसे सर्प की क्या सौम्यता। उग्र एवं क्रूर स्वभाव है मेरा।'

'दादा, तुम भी बहकाने लगे?' सुभद्र ने उपालम्भ दिया - 'तुम कब क्रोध करते हो?'

'भले मेरा स्वभाव क्रोधी हो' शेष ने स्वीकार किया - 'तुम जैसे सखा सम्मुख हों तो मुझे कभी क्रोध नहीं आवेगा।'

'ये ज्ञानघन ही तुम्हारे गुरु हैं।' सुकुमार उन चतुर्भुज श्यामसुन्दर ने कहा - 'समस्त जीवों के यही गुरु हैं और गुरु दयामय होने के साथ शास्ता भी होते हैं।'

'लेकिन तुम्हारे साथ मेरा यह सम्बन्ध नहीं है।' संकर्षण ने प्रतिवाद किया - 'हम सखाओं में कोई गुरु-शिष्य या बहुत बड़ा-

छोटा नहीं हुआ करता। केवल किंचित बड़े-छोटे का अन्तर। मैं तुम्हारा बड़ा भाई।'

'हाँ, तू तो दादा है।' सुभद्र तुम कहना भी भूल गया; 'किन्तु दादा! तू मुझे सिखलावेगा नहीं? मैं किसी दूसरे को गुरु बनाने भटकूँगा?'

'तुम्हें भटकना कहाँ है?' भगवान संकर्षण बोले - 'तुम स्वेच्छा से भव में जा रहे हो। वहाँ भी समय आने पर मैं तुम्हें सम्हाल लूँगा।'

'अब तो तुम निश्चिन्त हो गये?' नीलसुन्दर ने इस बार कहा।

'लेकिन मैं अभी हूँ कहाँ?' सुभद्र ने अब इधर-उधर देखा। नीलवसन संकर्षण जैसे शेष का आवरण ओढ़े हों। वे सहस्त्रफण शेष - भले वे सौम्य हैं, शान्त हैं, किन्तु इतने विशाल सजीव सर्प के समीप खड़े रहना अटपटा लगा भद्र को। उसने छूकर देखा शेष के उस श्वेत शरीर को और सोचा - 'इतना शीतल होता है सर्प और ऐसा गिलगिला, इसीलिए सम्भवतः इन पीतवसन को यह शय्या प्रिय है।'

'तुम पाताल में हो।' भगवान शेष ने ही कहा - 'पृथ्वी का अन्तराल सप्तावरणात्मक है। यह अन्तिम आवरण। इसे भू-केन्द्र कह सकते हो। इसी से मैं इसके आकर्षण का अधिष्ठाता बना, इसका धारक हूँ।'

'पाताल में भूमि के मध्य अन्तराल में!' सुभद्र कुछ सोचते हुए स्वयं बोल गया - 'मूषक के समान बिल बनाते मुझे बाहर जाना पड़ेगा?'

'तुम किसी विवर-द्वार से तो यहाँ आये नहीं।' शेष ने ही समझाया - 'भगवती रमा या श्रीनारायण ने भी तुम्हें नहीं भेजा। तुम वहाँ अब भी जा सकते हो। तुम्हारे इस दिव्य देह को देश या काल तो बाधक बनता नहीं। लेकिन तुम यहाँ आ गये हो तो भू-विवरों को भी देखते जाओ। भगवान वामन तुम्हें देखकर प्रसन्न होंगे। मय और बलि से मिलकर तुम्हें प्रसन्नता होगी। जहाँ तुम्हें अच्छा न लगे, तुम्हें कोई नहीं रोकेगा।'

'इन भू-विवरों में ही नागलोक है। अमृतकुण्ड है वहाँ!' अनन्तशायी ने सस्मित कहा।

'मुझे नागों का जूठा अमृत नहीं चाहिये।' सुभद्र ने मुख बनाया - 'अमृत का वास्तविक कलश अमरावती में है, जानता हूँ।'

'भगवान वामन ही वहाँ उपेन्द्र हैं।' शेष ने कहा - 'तुम अमृत पीना चाहोगे तो तुम्हारे लिए वह अलभ्य नहीं रहेगा। लेकिन .....।'

'अमृत पीकर मुझे यहीं कहीं अटके नहीं रहना।' सुभद्र ने स्पष्ट कह दिया - 'सुरों का वह उच्छिष्ट न भी हो, तब भी तो शरीर में अटकाता ही है। मेरा कन्हाई मेरी प्रतीक्षा करेगा।'

'तुम्हारा निर्णय सुदृढ़ रहे।' शेष ने सुप्रसन्न आशीर्वाद दे दिया।

दानवेन्द्र मय-

'अमृत की आवश्यकता आपको नहीं है, हम यह जानते हैं।' सुभद्र भगवान शेष के समीप से पाताल पहुँचा तो उसे ऐसा लगा कि यहाँ उसके स्वागत की तैयारी हुई है। नागराज वासुकि अनेक नाग-प्रमुखों के साथ सामने ही मिले - 'हम तो उपकृत होंगे यदि आप हमारा यह उपहार स्वीकार करेंगे।'

अनेक सिरोंवाले नागों से भरा वह पाताल लोक। इतने विशाल उनके वे मोटे लम्बे देह कि उनमें एक भी पृथ्वी पर आ जाय तो पूरे महानगर को मुख खोलते ही निगल जाय। लेकिन सुभद्र अभी सहस्त्र शीर्ष शेष के समीप से आया है। उनके सम्मुख तो ये वासुकि भी अत्यन्त साधारण सर्प से लगते हैं।

'आप देखते ही हैं कि मैं अभी अनन्तशायी के समीप से आ रहा हूँ।' सुभद्र बालक सही; किन्तु विनम्र है - 'मैंने सुना है कि समुद्र-मन्थन में आप मन्दराचल में लिपटे मन्थनरज्जु बने थे। सबसे अधिक कष्ट आपने सहा। अमृत आपका उचित भाग था। सुरों ने आपको अमृत देकर कोई उपकार नहीं किया।

'आप मुझे क्षमा करें।' दो क्षण रुककर वह फिर बोला - 'आपका अनुग्रह ही मेरे लिए बहुत है। अमृत पीकर मर्त्यधरा पर जाना विडम्बना होगी।'

'आपका शील है कि आपने नहीं कहा कि यहाँ का अमृत हमारा उच्छिष्ट है। हमारे हाथ तो हैं नहीं कि हम उसे पृथक पीते। सीधे मुख डालकर चाट लेना हमारा स्वभाव है।' वासुकि ने स्वीकार किया - 'हमारे विष-मिश्रण से यह मादक बन गया है।'

सच यह है कि सुभद्र को अनुभव ही नहीं कि मादक क्या होता है। कोई जानबूझकर अपनी बुद्धि को खोना चाहेगा - भले कुछ क्षणोंके लिए ही हो, यह वह सोच ही नहीं सकता।

'आप सब यहाँ भूमि के अन्तराल में रहते हैं।' नागों की मणियों और उनके ऐश्वर्य में उसे कोई आकर्षण नहीं। उसे वासुकि पर दया आ रही है - 'अमृत-मन्थन में मन्दर के घर्षण के घाव भले अमृतपान से मिट गये; किन्तु उनके चिह्न अब भी आपके शरीर पर हैं।'

'ये तो मेरे सौभाग्य-सूचक हैं।' अब वासुकि ने अपनी पूँछ घुमाकर दिखायी - 'मेरे सिर और इस पूँछ को अपने हाथों में स्वयं

श्रीहरि पकड़े रहे अधिकांश मन्थन के समय। सुरों और असुरों ने तो केवल हाथ लगाया। ये सब अल्पप्राण सिद्ध हुए। वे भूमापुरुष मन्थन न करते तो सुधा निकलनी थी। मैं अमृत न भी पाता, उन सर्वश्वर के कर-स्पर्श से ही स्वस्थ हो गया था।'

'आप अब अनुमति दें।' सुभद्र ने अपने नन्हें करों से वासुकि का शरीर सहला दिया।

पृथ्वी के भीतर ये महानाग - ये प्राण के, बल के अधिदेवता न हों तो धरा में धारक शक्ति कहां से आवे?

रसातल में हिरण्यपुर मिला; किन्तु उस स्वर्णपुरी के निवासी निवात-कवच दानवों ने सुभद्र की ओर ध्यान ही नहीं दिया। निश्छिद्र कवच चढ़ाये वे अपनी भोगपुरी में मदोन्मत्त घूमते दीखे। बालक सुभद्र को उनमें कोई रुचि नहीं थी।

महातल में भी वह रुका नहीं। उसके पहुँचते ही वहाँ के नागों ने सिर उठाकर, फण फैलाकर फूत्कार छोड़ी।

'आप महातल के हमारे सजातियों पर क्रोध मत करना!' पाताल से चलते समय वासुकि ने प्रार्थना की थीं - 'उनके पूरे

समुदाय का नाम ही क्रोधवश है। पृथ्वी पर अपार विष उत्पन्न होता रहता है। वह अहर्निशि भूतल को महाग्नि में परिपक्व होकर कुछ ही ऊपर जा पाता है और वहाँ विष-धातु तथा विषैली वनस्पतियों में उपलब्ध होता है। शेष महातल सीधे दानवेन्द्र भेज देते हैं। सृष्टिकर्ता ने उसे नागों का आहार बनाया है; किन्तु उसके सेवन से वे क्रोधोन्मत्तप्राय रहते हैं।'

सुभद्र को शेष के सम्मुख तो इस लोक के अनेक सिर नाग केंचुए जैसे लगे। ये सब पाताल के वासुकि तथा उनके बन्धुओं से पर्याप्त छोटे थे। बालक को कौन बतलाता कि तक्षक जैसे अत्यन्त विषैले इनमें प्रायः सब हैं और तक्षक ही इनका नायक है। ये आकार में भले वासुकि प्रभृति से छोटे हों, इनका विष अत्यन्त दारुण है।

कोई कह देता कि कालिय नाग भी इन्हीं में है तो सुभद्र अवश्य उस शँतकशीर्षा को ढूँढ़ता। कन्हाई उसके फणों पर थिरकता फिरा था। कन्हाई का यह सखा नागों से डरना क्या जाने; किन्तु इनमें उसे रुचि नहीं थी। इन्हें उद्विग्न करने के लिए क्यों रुके वह यहाँ?

तलातल में उसे दानवेन्द्र मय मिल गये। वह चकित रह गया। उस जैसे नन्हें बालक को ये दानव विश्वकर्मा इस प्रकार भूमि में पड़कर क्यों प्रणिपात करते हैं?

'बाबा! उठो तुम।' सुभद्र अपने छोटे करों से उन वज्र कर्कश काय, सुदीर्घ शरीर को उठा तो सकता नहीं था। उसने उनके घुँघराले केशों से मण्डित मस्तक को छू दिया।

कज्जल कृष्ण वर्ण भी इतना भव्य, इतना सुन्दर होता है, कोई सोच नहीं सकता। विशाल लोचनमय धीरे से उठे। बालक के पदों का मस्तक से स्पर्श किया उन्होंने और हाथ जोड़कर सम्मुख खड़े हो गये। उनके नेत्रों से अश्रु झर रहे थे। शरीर कम्पित था। रोम-रोम उठा हुआ। वाणी बोलने में असमर्थ हो रही थी।

'आप यह क्या कर रहे हैं?' सुभद्र ने उन महाशिल्पी के अञ्जलि बाँधे दोनों कर पकड़ लिये।

'यह महामायावी दानव आज पवित्र हो गया।' मय ने किसी प्रकार कहा - 'मय का जीवन श्रीकृष्ण का दान है। यह खाण्डव के दावानल से बच भी जाता तो पार्थ के बाण अवश्य विद्ध कर देते

यदि तुम्हारे मयूर मुकुटी ने इसकी शरण की आर्त पुकार सुन न ली होती।'

'इसमें क्या हो गया! कन्हाई ने कौन-सा बड़ा काम कर दिया। यह तो उसे करना ही चाहिये था।' सुभद्र को मय बहुत शालीन लग रहे थे - 'आप अब तक यह नन्हीं बात भूले नहीं।'

'मैं दानव हूँ। उपकार स्मरण रखना दानव का स्वभाव नहीं होता; किन्तु वे घनश्याम तो अपना कर छोड़ना नहीं जानते। उन्होंने अपनाया, तभी तो अपने प्रियजन के दर्शन का सौभाग्य दिया।' मय भावक्षुब्ध थे - 'आप तो मेरे आराध्य पिनाकपाणि के भी प्रिय हैं। अपने चरणों के अर्चन का सौभाग्य दें इस दानव को।'

चाहे जितना संकोच हो, सुभद्र समझ गया कि दानवेन्द्र का आग्रह स्वीकार करना ही पड़ेगा। लेकिन उनके सदन में जाकर वह चौंका। सदन ऐसा नहीं था जैसा दानव विश्वकर्मा का होने की कोई कल्पना करे। कठोर-सुस्थिर कला का भी कहीं नाम नहीं और वैभव का चाकचिक्य भी नहीं।

'आप यहाँ तपस्या करते हैं?' जब मय विधिपूर्वक उसका पूजन कर चुके, तब उसने पूछा। इसलिए पूछा; क्योंकि मय ने

श्रुति के सस्वर पाठ सहित उसकी अर्चा की थी। इसलिए पूछा, क्योंकि वह दानवेन्द्र के सदन की अपेक्षा कोई मन्दिर अधिक लगता था। इसलिए पूछा, क्योंकि वहाँ उसे श्रद्धा, सात्विकता साकार लगती थी।

वहाँ कला थी, सजावट थी, मणि-रत्न भी थे; किन्तु सब होने पर भी बहुत सादगी लगती थी। बहुत सौम्य सज्जा थी। लगता था कि एक-एक अणु यहाँ अत्यन्त श्रद्धा से सजाया गया है।

'दानव तप भी करे तो सृष्टि के लिए दुर्दैव ही लावेगा।' मय खुलकर हँसे - 'किन्तु भगवान भूतनाथ ने अपने इस आश्रित को अपनाया तो इसकी भोगेच्छा मर गयी। मैंने पुत्रों के मोह में पड़कर त्रिपुर-निर्माण का पाप किया - विनाश के साधन दे दिये दानवों को और मेरे करुणामय आराध्य ने इतने पर भी मुझे वीरभद्र को भेजकर बचा दिया।[1] मैं उनका हाटकेश्वर ज्योतिर्लिंग लेकर चला आया यहाँ। यह मेरी अर्चना का स्थान है। यह उन महेश्वर ने मुझ दिया है। इसे मैं भोग भूमि बनाने का प्रमाद तो नहीं कर सकता।'

---

[1] त्रिपुर-दहन चरित 'शिव चरित' में गया है।

'यदि आप अधिकारी समझें मुझे' संकोचपूर्वक सुभद्र ने कहा - 'भगवान् हाटकेश्वर के दर्शन कर लूँ मैं।'

आराध्य विग्रह अर्चक का अपना होता है। उस रूप में आराध्य उसके सर्वथा अपने हैं। वहाँ दूसरे किसी का - आराध्य के अभिन्न परिकरों का भी प्रवेश अर्चक की अनुमति के बिना अनुचित है।

'आप अर्चन नहीं करेंगे?' मय ने भी संकोचपूर्वक ही पूछा - 'दानव की आराध्यमूर्ति होने पर भी ज्योतिर्लिंग है वह।'

'यहाँ विल्वपत्र और पुष्प....' सुभद्र ने पूछा। उपयुक्त उत्तम सामग्री न प्राप्त हो तो पूजन में उसकी रुचि नहीं होती।

'आप भूल ही गये कि यह दानव मायावी है और' मय खुलकर पहिली बार हसें - 'विश्वकर्मा का संस्पर्धी भी है यह। आप नीलोत्पलों से अर्चा करेंगे या रत्नकमलों से?'

'रत्न तो कठोर और निर्गन्ध होते हैं।' सुभद्र को स्वर्ण, रत्न, मणि कभी भव्य या मूल्यवान नहीं लगे। 'सुगन्धित, सुरंग, सुकुमार

सुमन ही अर्चा के उपयुक्त उपकरण होते हैं; किन्तु बाबा को विल्वपत्र, धतूरा और आक के फूल प्रिय हैं।'

'आप पधारें!' मय ने मार्ग-दर्शन किया।

'आप मन्त्रपाठ कर दीजिये।' सुभद्र ने भूमि में मस्तक रखकर भगवान हाटकेश्वर को प्रणाम किया और समीप सजे आसन पर बैठ गया - 'पूजा की विधि भी आप ही बताइये। यहाँ के आप प्रधान अर्चक हैं।'

'आप दानव के यजमान बन रहे हैं।' मय ने विनोद किया - 'दक्षिणा यह नहीं छोड़ेगा।'

'कन्हाई दे देगा।' सुभद्र के समीप अपना क्या धरा है और जब कन्हाई को देना है वह क्यों सोचे कि दानव विश्वकर्मा क्या माँगेंगे।

'नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥'

मय की गम्भीर परावाणी गूंजने लगी। वे महाशैव श्रद्धाविभोर पूजन कराने में तन्मय हो गये। सम्भवतः पहिली बार वे किसी के आचार्य बने थे।

गंगाजल, दुग्ध आदि का सविधि अभिषेक और जब समय का प्रश्न नहीं, सामग्री का अभाव नहीं तो पूजन पञ्चोपचार या षोडशोपचार क्यों हो? महाराजोपचार से पूजन चलने लगा।

मय और सुभद्र दोनों में से किसी को पता नहीं लगा कि कब अर्चाविग्रह के स्थान पर साक्षात् धूर्जटि गंगाधर आकर आसीन हो गये और पूजन ग्रहण करने लगे।

नीराजन के अनन्तर स्तवन करते मय नृत्य करने लगे और सुभद्र ने ताली बजाना प्रारम्भ कर दिया, यह भी दोनों को स्मरण नहीं कि उनके स्तवन, नृत्य में कब डमरू का डिम-डिम सम्मिलित हो गया।

'वरं ब्रूहि!' दोनों जब अन्त में प्रणिपात करने लगे, तब एक साथ दोनों के मस्तकों पर कर स्पर्श हुआ ओर अमृतस्वर गूँजा।

'श्रीचरणों में अनुराग।' झटपट दोनों बैठे और अञ्जलि बाँधकर एक साथ बोले।

'एवमस्तु!' वह ज्योतिमूर्ति उस अर्चा-विग्रह में ही अदृश्य हो गयी।

'आचार्य! आपकी दक्षिणा?' कुछ समय लगा सुभद्र को स्वस्थ होने में। सावधान होने पर उसने हँसते-हँसते मय की ओर देखा।

'आप महा महेश्वर के स्नेह शिशु हैं।' मय ने सुभद्र के पदों पर मस्तक रख दिया - 'महेश्वर ने आपकी ओर से जो दक्षिणा दे दी, अनन्तकाल के लिए यह दानव उससे परितृप्त हो गया।'

'अब आप अनुमति दें।' सुभद्र ने चलने का उपक्रम किया।

'एक अनुरोध है।' मय ने अञ्जलि बाँधी - 'आप सुतल में भगवान वामन के दर्शन तो करेंगे ही और मेरे आराध्य ने यहीं आपकी अर्चा स्वीकार कर ली है। अतः वितल आप छोड़ दीजिये।'

'कोई विशेष बाधा है?' सुभद्र ने सहज पूछ लिया।

'आपके लिए कहीं कोई बाधा सम्भव नहीं; किन्तु' मय संकोचपूर्वक कह गये - 'भगवान हाटकेश्वर का अर्चा-विग्रह यहाँ है और वितल उनका अन्त:पुर है। देवी के साथ वे वहाँ एकान्त क्रीड़ा करते हैं। मैं भी वहाँ कभी नहीं जाता।'

'अम्बा संकोच में पड़ें, मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा।' सुभद्र ने अपनी यात्रा में से वितल जाने का कार्यक्रम छोड़ दिया। यह अच्छा ही हुआ। पृथ्वी गर्भ की अग्नि से अतल-वितल दोनों तप्त रहते हैं। उमा-महेश्वर तो अग्निमूर्ति वितल में निवास करते हैं। साथ में भूत-प्रेत जैसे अगिया बेताल, सुभद्र वहाँ जाकर प्रसन्न नहीं होता।

दैत्यराज बलि-

अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुभद्र सुतल पहुँचकर। यह तो वह स्वर्ग पहुँचा तब पता लगा कि अमरपुरी का ऐश्वर्य सुतल के सम्मुख बहुत फीका है; किन्तु ऐश्वर्य और सौन्दर्य सुभद्र को प्रभावित नहीं करता। वह अभी ब्रह्मलोक तथा विष्णुलोकों का वैभव देखकर आया है। उसे प्रसन्नता हुई सुतल के स्वामी के द्वार पर गदापाणि भगवान वामन को देखकर।

'तुम यहाँ खड़े हो? तुम्हें पता है कि मैं आ रहा हूँ? तुम अकेले कैसे आ गये? यह गदा कहाँ से ले आये!' सुभद्र दौड़कर वामन के पास पहुँच गया। उनका हाथ पकड़कर हिला दिया उसने। उसे यही लगा कि उसका कन्हाई ही वहाँ आ खड़ा हुआ है।

वही नवघन सुन्दर शरीर, वैसा ही पीतपट; किन्तु सुभद्र को अपनी भूल शीघ्र ज्ञात हो गयी। वह वामन का हाथ छोड़कर दो पद पीछे हटकर उन्हें देखने लगा - 'तुम तो कन्हाई नहीं हो। इतना मोटा जनेऊ पहिने हो और मुझसे इतना छोटा कन्हाई नहीं है। मैं सुभद्र हूँ - भद्रसेन। तुम कौन हो?'

'मैं तुमको जानता हूँ।' मन्द-मन्द मुस्कराते मेघ गम्भीर स्वर में भगवान वामन बोले - 'मैं देवमाता अदिति का सबसे छोटा पुत्र हूँ; किन्तु बालक नहीं हूँ। मेरा शरीर वामन है।'

'वामन - वामन विष्णु! बाबा, मुझे क्षमा करो! मैं तो समझा......।' सुभद्र ने हाथ जोड़े।

'भूल से सही; किन्तु भ्रम से भी अपना सखा समझकर तुमने मुझे सम्मानित ही किया है।' वामन सुप्रसन्न थे - 'तुमसे अपराध नहीं हुआ। लेकिन तुम यहाँ आ गये हो तो दैत्येश्वर की अर्चा स्वीकार कर लो!'

'महाभागवत प्रह्लाद का पौत्र विरोचनात्मज दैत्यबलि प्रणिपात करता है।' एक ओर से यह विनम्र स्वर आया तो सुभद्र ने उधर देखा। स्वर्ण गौर विशाल वपु, रत्नाभरण जो पुरुष भूमि में दोनों हाथ आगे फैलाकर पड़ गये थे, उनका शरीर अत्यन्त सुगठित था; किन्तु देखने में वे देवोपम लगते थे। उनके पीछे जो अनुचर आये थे, वे भले दैत्य कहे जायँ; किन्तु वे दैत्य दीखते नहीं थे।

'आप उठो!' सुभद्र ने उनका मस्तक स्पर्श करके कहा - 'मैं तो बालक हूँ। मेरी यह अभ्यर्थना..... '

'आप अपने इस चरणाश्रित को ठगो मत।' सर्वत्र भगवद्दर्शन के अभ्यासी बन चुके बलि ने कहा - 'एक बार यज्ञशाला में बालक बनकर पधारकर आपने मुझे वञ्चित करने का प्रयत्न तो कर देखा। आप अपनी करुणा से स्वयं वञ्चित हुए।'

सुभद्र ने वामन की ओर देखा। बलि क्या कह रहे हैं, यह पूरी बात वह भले न समझ सका हो; किन्तु समझ गया कि इन वामन की बात ही वे कह रहे हैं।

'तुम दैत्येश्वर के साथ पधारो। इन्हें अर्चा का सौभाग्य प्राप्त होने दो।' भगवान वामन ने कहा - 'मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। संकोच मत करो।'

'मेरा जन्म-जन्म का पुण्योदय हुआ आज' - बलि भूल गये कि वे दैत्येश्वर हैं और दैत्य सेवकों से घिरे द्वार पर खड़े हैं। वे तो दोनों हाथ उठा कर कीर्तन करने लगे। वामन ने अपने अनुभाव से ही उन्हें शान्त किया।

भगवान वामन दैत्यराज के आग्रह पर भी कभी भीतर नहीं जाते। बलि को उनकी पूजा द्वार पर आकर करनी पड़ती है। आज बालक रुप में ऐसे अतिथि पधारे कि उनके साथ वामन प्रभु भी सिंहासन पर बैठेंगे और उनके पाद-प्रक्षालन का अवसर पुनः प्राप्त होगा।

बलि ने वामन और सुभद्र को एक ही रत्नसिंहासन पर बैठाया। दैत्येश्वर पट्ट-महिषी विन्ध्यावली ने दोनों के चरण धोये। सविधि अर्चा हुई। अवश्य इस अर्चा में वामन के संकेत पर सुभद्र अग्रपूज्य बना लिया गया था। पुराण-पुरुष होने पर भी शरीर से वामन बालक ही लगते थे, अतः उनकी समीपता ने सुभद्र को बहुत कुछ नि:संकोच कर दिया था।

'तुम इस समय जहाँ हो, यह सुतल धरा का अन्तराल है; किन्तु धरा के तल में जो असह्य अग्नि-सागर है, जिसमें सब धातुएँ द्रव बनीं खौल रही हैं, उससे यह इतना अन्तरंग है कि वहाँ की ऊष्मा यहाँ सुखद जीवन-दायिनी बनी रहती है।' वामन ने स्वयं बतलाया।

'यह स्थूल लोक तो लगता नहीं।' सुभद्र ने देखा कि वहाँ समीप अत्यन्त मनोहारी उद्यान लहरा रहे हैं और सुस्वर पक्षियों के स्वर भी हैं।

'हम असुर दैत्य, दानव, राक्षस और यक्ष - इन चार कुलों के हैं। हम देवताओं के समान ही महर्षि कश्यप की सन्तान हैं।' बलि ने अपना कुल परिचय दिया - 'देवता हमारे अनुज हैं। हम सबकी माताएँ पृथक हैं। हमारी और देवताओं की देह-रचना तथा जन्मजात शक्तियों में कोई अधिक तारतम्य नहीं है। देवता अधिक सत्वगुण अपनाकर सुकुमार हो गये और दैत्य-दानवादि ने कर्मशील रहकर काया को कठोर बना लिया।'

'देवताओं के समान ही दैत्य-दानव, यक्ष-राक्षस भी कामरूप, जन्म-सिद्ध होते हैं।' भगवान वामन ने कहा - 'स्वर्ग भोग-लोक है और ये सुतल आदि कोई हीन लोक हैं, ऐसा नहीं है। ये भी पुण्यलोक ही हैं; किन्तु देवलोक से ये प्रकृष्ठ हैं।'

'देवलोक उत्तम नहीं हैं?' सुभद्र ने पूछा।

'देवताओं का दर्प है कि अमरावती उत्तम है। अन्यथा हम असुरों ने अनेक बार उसे बलपूर्वक अधिकृत किया है। देवता

भागे-भागे फिरते रहे हैं।' बलि ने सगर्व कहा - 'हमारे इन लोकों में एक पर भी कभी देवताओं का अधिकार नहीं रहा।'

'स्वर्ग की अधिक निकटता है मनुष्य-लोक से। तुम चाहो तो इसे उसकी श्रेष्ठता कह सकते हो; किन्तु यह निकटता उसे उपेक्षणीय भी बनाती है।' भगवान वामन गम्भीर हो गये।

'मनुष्य के पाप या पुण्य जब इतने अधिक हों कि किसी पार्थिव देह में उनका भोग सम्भव न हो तो उसे पृथ्वी पर जन्म देने से पूर्व उसके पाप या पुण्यों को एक सीमा तक कम करना आवश्यक हो जाता है। पाप भोग के लिए नरक है और पुण्य भोग के लिए स्वर्ग। पाप एक सीमा में आये तो नरक से छुटकारा और पुण्य भोग द्वारा परिमित हुए तो स्वर्ग से निष्कासन।'

'इन अधोलोकों में धरा का प्राणी नहीं आता'? सुभद्र का प्रश्न स्वाभाविक था।

'त्रिभुवन में जितने लोक हैं, सब भोग लोक हैं। केवल धरा का मनुष्य ही वहां जाता है। धरा पर भी मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है और उसमें भी धन्य हैं वे जो अजनाभवर्ष (भारत) में मनुष्य जन्म पाते हैं।' बलि ने इस बार उल्लासपूर्वक कहा - 'देवता और

हम दैत्य भी भारत में रहने को उत्सुक रहते हैं। अवसर मिलते ही वहाँ टिकने लगते हैं या जन्म लेने लगते हैं।'

'तब ये अधोलोक भी ,अमरावती के ही समान हुए।' सुभद्र ने कहा नहीं, केवल सोचा।

'अधोलोकों में वे पुण्यात्मा जन्म लेते हैं जिनके पुण्य इतने अधिक हों कि कल्प पर्यन्त उन्हें जन्म न लेना हो।' भगवान वामन ने कहा - 'केवल कुछ विशेष महानुभाव मन्वन्तर पर्यन्त यहाँ रहते हैं।'

'मैं ऐसा ही भाग्यहीन हूँ।' बलि ने खेदपूर्वक कहा - 'धरा पर पहुँच गया था और मेरे ये मोक्षदाता प्रभु प्रसन्न भी हुए; किन्तु स्वर्ग के मोह ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। इन परमोदार ने मेरे सौ अश्वमेध यज्ञ के फल के रूप में सावर्णि मन्वन्तर का इन्द्रत्व मेरे लिए सुरक्षित कर दिया।'

'स्वर्ग तब सचमुच उपेक्षणीय है। वहाँ से निष्कासन की अवधि ही अनिश्चित है।' सुभद्र बोल उठा - 'ये अधोलोक कम-से-कम एक कल्प का आश्वासन तो है।'

'कल्पपर्यन्त ब्रह्मलोक में तथा तपोलोक, जनलोक और महर्लोक में भी पुण्यात्मा रहते हैं।' वामन भगवान ने स्पष्ट किया - 'जो शुद्ध सत्वगुणी होते हैं वे उन लोकों में और जो कर्मासक्त रजोगुणी धर्मात्मा, किन्तु उग्र प्रकृति होते हैं, वे इन अधोलोकों में पहुंचते हैं।'

'मैंने केवल ब्रह्मलोक देखा है।' सुभद्र को लगा कि भगवान वामन जैसा उत्तम और समवयस्क न सही, लगभग समकाय मिला है तो पूरी जानकारी उसे प्राप्त कर लेना चाहिये।

'तुम उन लोकों को देख लो। उनको देखने के पश्चात् अमरावती पहुँचोगे तो वहाँ के भोग तुम्हें प्रलुब्ध नहीं करेंगे।' वामन ने सम्मति दी - 'तपोलोक, जनलोक और महर्लोक ये तीनों तपस्वियों के ही हैं। इनमें तुम्हें कल्पजीवी तापस, ज्ञानी, योगी मिलेंगे। तुम उनसे मिलकर प्रसन्न होगे।'

'मैं जटा नहीं बढ़ाऊंगा और न तप करूँगा।' सुभद्र का बालकपन मचला - 'मुझे उनमें किसी को गुरु नहीं बनाना। मैं तो मर्त्यधरा पर निवास करूँगा।'

'जिसे स्वयं संकर्षण भगवान ने मन्त्र देने का वचन दिया है, उसे शिष्य बनने का धृष्ट प्रयत्न कोई नहीं करेगा।' वामन ने आश्वासन दिया - 'तुम्हें तप या ध्यान करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु हरिचर्चा तुम्हें प्रिय लगेगी। वहाँ भगवत्कथागत प्राण पवित्रात्मा कम नहीं हैं।'

'तब मैं वहाँ जाऊँगा।' सुभद्र उठ खड़ा हुआ। उसके उठते ही भगवान् वामन और सपरिकर बलि भी उठकर खड़े हो गये।

'तुम अधोलोकों को तो देख ही रहें हो।' भगवान वामन ने अन्तिम सूचना दी - 'इनमें से वितल भगवान हाटकेश्वर की विहार-स्थली है और अतल मयपुत्र महामायावी बल की। ऊपर के लोकों को देखते लौटो तो अमरावती भी देख ही लेना; किन्तु दूसरे लोकपालों की पुरियाँ स्वर्ग से कम सुशोभन नहीं हैं। लोकपालों की समस्या तुम यदि सुन लोगे तो तुम्हारे सखा का ध्यान भी कदाचित चला जाय उनकी ओर।'

'लोकपालों की पुरियाँ?' सुभद्र ने पूछा।

'कुबेर, वरुण, यम तीनों की पूरा देख लेना पर्याप्त होगा।' वामन भगवान ने कहा - 'वैसे तो अग्नि, वायु, निऋति की भी पुरियाँ हैं और गंधर्व, अप्सराओं के उपनगर हैं अमरावती में।'

महर्जनः तपः-

असह्य उष्णता धरा के उस अन्तराल में। पिघले लावे का उबलता समुद्र; किन्तु दिव्य देह सुभद्र को उसके क्या भय।

सब अधोलोक भी देवलोकों के समान भावलोक ही हैं। सुभद्र तो सूर्यलोक भी हो आया था। वितल उसने छोड़ दिया था और अतल उसे अटपटा लगा। उस अग्नि-समुद्र में उसे अल्प आकर्षण भी नहीं दीखा।

सुभद्र वहाँ रुक भी जाता तो क्या मिलना था उसे? मय के महामायावी पुत्र बल के समीप मायाएँ सही, लेकिन सुभद्र की तो माया सीखने में कोई रुचि नहीं। उसे माया ही सीखना होता तो मय मना करते?

अतल की अकल्पनीय ऊष्मा। उस अग्नि में मयपुत्र बल और उसके अनुचरों का आवास है। उनका आहार है हाटकरस अर्थात् पिघला स्वर्ण। इस आहार पर रहने वाले कैसे होंगे - धरा का प्राणी कल्पना भी नहीं कर सकता।

वहाँ स्त्रियाँ भी हैं; किन्तु उनके केवल तीन वर्ग हैं - 1. कामिनी-सदा कामुका। 2. स्वैरिणी-उनका अपना मन जिस पुरुष को जब स्वीकार करे, उस पुरुषको प्राप्त करके रहेंगी। 3. पुंश्चली - कोई पुरुष उन्हें चाहे जब प्राप्त कर सकता है। इनके अतिरिक्त उस लोक में कोई गृहिणी या पत्नी नहीं। वहाँ माता, बहिन, बेटी की कल्पना ही नहीं।

दानवेन्द्र मय के मायावी पुत्र बल ने यह द्रव अग्नि का लोक अपना निवास बहुत सोचकर बनाया। देवता दानवों के शत्रु और सर्वत्र उनका भय; किन्तु इस अग्नि समुद्र में आकर वे करेंगे क्या?

दानव बल की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं। उसे विलास - निरुपद्रव विलास चाहिये। यह अग्निसमुद्र बसा लिया। उसे अपने समान रुचि के सेवक चाहिये। उसने अपनी जम्हाई से शतशः स्त्रियाँ उत्पन्न कर दी। इन स्त्रियों के उपरोक्त तीन वर्ग। कहीं से कोई अपहरण नहीं, अतः स्त्री के कारण संघर्ष का प्रश्न नहीं।

अब जो दैत्य-दानव एक बार इस लोक में आ जाता है, भूल ही जाता है कि सृष्टि में दूसरा भी कहीं कोई स्थान है। यहाँ का द्रव सुवर्ण पीकर और यहाँ की स्त्रियों के सम्पर्क में आकर उनका जादू न चले, सम्भव नहीं। ऊपर से बल की मायाओं का महाजाल।

यहां पहुँचा प्रत्येक पुरुष समझने लगता है - 'मैं सर्वसमथ हूँ। मुझसे अधिक भोग सक्षम दूसरा कोई नहीं। मुझमें दस सहस्त्र हाथियों का बल है।'

आप कह सकते हैं कि यह पागलपन है। लेकिन पागल-मदोन्मत्त हुए बिना कोई प्राणी - दानव सही, उस अग्निसमुद्र में रहना ही क्यों चाहता? दानव बल ने कामिनी आदि स्त्रियों के तीन वर्ग तथा अपनी माया का विस्तार ही इसलिए किया था कि वहाँ आये दैत्य-दानव उसके व्यामोह में वहाँ से जाना न चाहें। उसका लोक बसा रहे। वह वहाँ पत्नी बनने की निष्ठा रखनेवाली दानव नारियाँ लाकर सन्तान-परम्परा चलाने के पक्ष में नहीं था।

'सन्तान होती है तो परिवार बनते हैं। उनके स्वार्थ पृथक् होते हैं। इससे संघर्ष उत्पन्न होता है।' आप बल के मत से असहमत हो सकते हैं - किन्तु उसे एकमात्र अपने प्रति सबको वहाँ निष्ठावान रखना था। अतः उसकी व्यवस्था निरंकुश शासक के अनुरूप ही है।

सुभद्र ने जनलोक में एक महापुरुष से पूछा था - 'सृष्टिकर्ता ने एक अध:लोक ही क्यों ऐसा बना दिया? बल और उसके अनुचर कल्पजीवी हैं।'

'पृथ्वी पर जीवन बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि भूगर्भ में पर्याप्त ऊष्मा हो।' महात्मा ने समझाया - 'उस ऊष्मा में बल और उसका समाज बना रहता है तो कहीं किसी अन्य लोक का कुछ नहीं बिगड़ता। विश्व-स्रष्टा को तो सब भावों के बीज भी सुरक्षित रखने पड़ते हैं। जब इस जनलोक में वासना का बीज ही नहीं तो कहीं उसी का प्राधान्य भी होना चाहिये।'

सुभद्र सीधे तपोलोक चला गया था। अतल में वह कुछ क्षण को पहुँचा और वहाँ से इतना खिन्न हुआ कि बीच के लोकों को लौटते हुए देखना उसे ठीक लगा।

तपोलोक भी सुभद्र को बहुत प्रिय नहीं लगा। उसमें न आवास हैं, न उद्यान। केवल विशाल वृक्ष हैं और प्रचुर जल है। पशु-पक्षियों का वहाँ प्रवेश ही नहीं। पूरा लोक नीरवप्राय। कदाचित ही कहीं गति होती है।

ध्यान, समाधि, तप - सब शान्त, मौन और अपनी साधना में संतुष्ट। किसी का ध्यान किसी दूसरे की ओर नहीं जाता।

सत्त्वगुण में भी गति नहीं है। तपोलोक परिशुद्ध सत्त्व का घनी भाव। धरा पर हम आज असंख्य ऐसे व्यक्ति देखते हैं जो अपने दैनिक जीवन में परम संतुष्ट हैं; किन्तु यह सन्तोष रजोगुण का होने से अस्थिर है। तपोलोक का सन्तोष निरतिशय है।

साधन में जो सुख, शान्ति, सन्तोष है यह केवल साधक समझ सकते हैं। निर्बाध, निर्विघ्न साधन चलता रहे, साधक के लिए इससे बड़ा सौभाग्य नहीं। उसे दूसरा कुछ नहीं चाहिये।

तपोलोक ऐसे सब साधकों का लोक नहीं है। वह उनका लोक है जो तपोनिष्ठ रहे धरा पर। व्रत, उपवास में निष्ठा यहाँ पहुँचाती है।

कोई ऊर्ध्वबाहु एक पाद खड़ा है, कोई पञ्चाग्नि में स्थित है। किसी ने आहार ही नहीं, जल भी त्याग दिया है। अनेक जल में डूबे रहते हैं। कुछ ऐसे जो वृक्षों से उतरते ही नहीं। वहाँ कितने समय का प्रश्न व्यर्थ है। कल्पान्त में भी तपोलोक, जनलोक और महर्लोक का नाश नहीं होता। ये लोक तो महाप्रलय में तब लीन होते हैं, जब भगवान ब्रह्मा अपनी दो परार्ध की आयु पूरी करके परमपद प्राप्त करते हैं।

सुभद्र की तपस्या और ध्यान में रुचि नहीं। वह तपोलोक से शीघ्र जनलोक आ गया और जनलोक आया तो बहुत समय तक भूला रहा कि उसे और भी कहीं जाना है।

जनलोक तपोलोक से सर्वथा भिन्न। ढूँढ़ने पर भी कोई वहाँ ध्यानस्थ न मिले। कहीं कथा हो रही है और कहीं संकीर्तन महोत्सव है। कोई एकाकी ही अपने संगीत में स्वयं निमग्न है।

निर्गुण या सगुण का आग्रह जनलोक में नहीं। लेकिन कथा हो या संकीर्तन, गायन हो या वार्ता, केवल भगवान को वाणी और मन समर्पित। उन सर्वात्मा के सगुण रूपकी चर्चा या निर्गुण तत्त्व का निरूपण।

सुभद्र विभोर हो गया। कन्हाई का गुणगान, व्रजेन्द्रनन्दन के नाम-गुण-लीला का कीर्तन - वह स्वयं ताली बजाता कहीं नाच उठता और कहीं शान्त सुनता।

निर्गुण चर्चा भी सुलभ थी और भगवान के सभी रूपों के रसिक थे; किन्तु सुभद्र ने कम ही उधर ध्यान दिया। वैसे वह भगवान नारायण, श्रीगंगाधर, महाशक्ति, श्रीरघुनाथ, भगवान गणपति, सूर्य नारायण के सुयश-सत्संग से अरुचि नहीं रखता था।

गया वहाँ भी; किन्तु घूम-फिरकर श्रीकृष्ण-कथा स्थल उसका केन्द्र बन गया।

'भद्र! महर्लोक के सिद्ध तुम्हारा सामीप्य चाहते हैं।' अचानक सनकादि कुमारों में से सनन्दनजी ने सूचित किया - 'वैसे तुमको अपने मध्य पाकर हमें बहुत हर्ष होता है।'

सुभद्र बालक था। स्वभावत: नित्य पाँच-छ: वर्ष के बने रहने वाले इन कुमारों में उसका आकर्षण था। वह इन्हें अग्रजों का सम्मान देता था। ये परमर्षिगण भी उसे स्नेह दे रहे थे। जब ये कुमार साथ चलने लगे तो वह महर्लोक आ गया।

कुमार सम्भवत: उसे पहुँचाने ही आये थे। जनलोक का तो वह था नहीं कि द्विपरार्ध पर्यन्त वहाँ बना रहता। महर्लोक के सिद्धों का सत्कार स्वीकार करके चारों कुमार ब्रह्मलोक चले गये सुभद्र को छोड़कर।

'आप सब यहाँ रहेंगे?' सुभद्र को महर्लोक में पहुँचकर मर्त्यधरा का ध्यान आया। उसे लगा कि जब यहाँ से धरा पर उतरा जा सकता है तो ये सब सिद्ध अजनाभ वर्ष में जन्म क्यों नहीं ले लेते।

'तुम्हारे समान स्वतन्त्र किसी लोक में कोई नहीं।' एक वृद्ध ने बतलाया - 'हम सब विश्वनियन्ता के विधान-परतन्त्र हैं। हमारी आयु द्विपरार्ध पर्यन्त है; किन्तु प्रत्येक प्रलय में हमें यह अपना लोक त्यागकर जनलोक में प्रलयकाल व्यतीत करना पड़ता है।'

'क्यों?' सुभद्र ने पूछ लिया।

'प्रलय में जब नीचे के लोग भस्म होने लगते हैं, यहाँ इतनी उष्णता हो जाती है कि यह लोक निवास योग्य नहीं रहता।' उन वृद्ध ने सखेद कहा - 'प्रलय तो पहुँची ही रहती है। ब्रह्माजी के दिन का अन्त हुआ और प्रलय आयी। उन स्रष्टा की प्रत्येक सायं-सन्ध्या को हम भागने को विवश हैं। रात्रि-प्रलय रात्रि जनलोक में हमें व्यतीत करनी पड़ती है।'

'हमारे आकार प्रायः वही हैं जो पृथ्वी पर मनुष्य देह त्यागते समय था। सब वृद्धप्राय, उज्ज्वल केश अधिक, मुण्डित मस्तक या जटाधारी देखकर सुभद्र ने पूछा था कि 'यहाँ कोई बालक क्यों नहीं है? युवा इतने कम क्यों हैं?'

'हम मानव जीवन में माया के प्रपञ्च में प्रलुब्ध हो गये।' सखेद एक ने सुनाया - 'तत्त्वज्ञान प्राप्त था हमें। अनेक स्माधि सिद्ध थे हममें। अनेक ने उपासना से आराध्य का प्रत्यक्ष पाया था; किन्तु किसी प्रयोजन विशेष से जान-बूझकर सिद्धि का उपयोग किया और यहाँ आना पड़ा।

'कब तक आप यहाँ रहेंगे?' सुभद्र को यह विवशता बुरी लगी।

'अब तो द्विपरार्ध के अन्त में ब्रह्माजी के साथ हमें छुटकारा मिलेगा।' उस सिद्ध ने कहा - 'धरा के साधकों के संरक्षण, सहायता, मार्गदर्शन का दायित्व हमें तब तक निभाना है। सिद्धि ने हमें धरा के साधकों की सहानुभूति के बन्धन में बाँध दिया।'

'सहानुभूति, सहायता तो बुरी बात नहीं है।' सुभद्र ने चकित होकर कहा।

'सहानुभूति-सहायता का अहंकार बुरी बात है।' वे सिद्ध कह गये - 'सिद्धि का प्रयोग ही इस अहंकार से होता है कि हम भी कुछ कर सकते हैं। अन्यथा सर्वज्ञ, सर्वस्मर्थ करुणावरुणालय

सर्वेश के सम्मुख अपनी शक्ति के प्रयोग का प्रयत्न अपराध तो है ही।'

सुभद्र को यह बात बहुत अटपटी लगी। लेकिन वह कह गया - 'इतना मैं जानता हूँ कि कन्हाई खेल में कोई अटपटा खिलौना बनाने लगे तो उस समय उसे रुचता नहीं कि कोई उसकी भूल सुधारे। वह रूठने लगता है। अतः मैं उसके ऐसे पचड़े में नहीं पड़ता। उसे कुछ जानना या कराना हो तो स्वयं कहना चाहिये।'

यह सिद्धलोक जिसे महर्लोक कहते हैं, सुभद्र को रोक नहीं सकता था। वहाँ कोई बालक तो था ही नहीं। अमरावती और धरा दीखती थी वहाँ से। अतः सुभद्र को यात्रा करनी थी।

अमरावती अभागिनी-

'आपने कौन से पुण्य किये हैं?' पहुँचते ही द्वारपाल ने यह प्रश्न किया तो सुभद्र झुँझला उठा।

'मुझे पता नहीं।' उसने रूखे स्वर में कहा - 'यह पता रखना मेरा काम नहीं है।'

जीव का काम नहीं है अपने पाप-पुण्य का विवरण रखना; किन्तु देवलोक के अधिकारी तो ईर्ष्यालु हैं। वे नवागन्तुक को उकसाते हैं कि वह स्वयं अपने पुण्यों का वर्णन करे। अपने मुख से अपने सत्कर्मों का वर्णन करने से वे क्षीण होते हैं। अहंकार बढ़ता है। इससे स्वर्ग के सेवकों को उस प्राणी का कम समय तक, कम सत्कार करना पड़ता है। उसे शीघ्र निकाल दिया जा सकता है।

'आप कहाँ से पधारे?' द्वारपाल को आश्चर्य था कि स्वर्ग में इतना अल्पायु बालक कैसे आ गया। यहाँ तो किशोरावस्था का भोग देह धारण करके पुण्यात्मा आते हैं। बालवपु लेकर आने वाला यहाँ क्या भोगेगा? अब तक तो कोई इतना अल्पायु यहाँ आया नहीं। अत: उसने पूछा - 'आप किससे मिलेंगे? क्या परिचय दूँ आपका।'

'कठिनाई यह है कि तेरे दाढ़ी नहीं है, अन्यथा पता लगता कि मैं उसे कितना हिला सकता हूँ।' सुभद्र खीझ गया इस पूछाताछी से - 'मुझे किसी से मिलना नहीं। यह पुरी देखने आया हूँ। तू द्वार से हटेगा या....'

'नहीं, नहीं!' द्वारपाल घबड़ाकर एक ओर हटा - 'आप मुझे शाप मत दीजिये। आपको मैं रोकूँगा नहीं; किन्तु यह पुरी क्या अब पर्यटन स्थली बना दी सृष्टिकर्ता ने?'

'यह सृष्टिकर्ता से पूछ लेना।' सुभद्र समझता है कि जैसे वह इच्छा करते ही किसी लोक में जा सकता है, वैसे ही यह स्वर्ग का देवता द्वारपाल भी जा सकता होगा।

'भगवान सनत्कुमारों में तो ये हैं नहीं।' द्वारपाल सोचता खड़ा रह गया। उसके यहाँ एकाध बार वे ब्रह्मपुत्र पधारे हैं। उन्हें जानता है। लेकिन यह बालक? इतने सहज ढंग से ब्रह्माजी से पूछ लेने की बात कहने वाला कौन? लेकिन द्वारपाल को यही बहुत लगा कि उसे शाप नहीं मिला। उसे द्वार पर केवल पूछताछ करनी होती है। किसी को रोकने का तो उसे अधिकार है नहीं। जो यहाँ तक पहुँच सकेगा, वह स्वर्ग का अनधिकारी हो नहीं सकता।

'यहाँ यह सब क्या हो रहा है?' सुभद्र ने सीधे सुधर्मा सभा में पहुंचकर शक्र से ही पूछा। इन्द्र की उस सभा के ऐश्वर्य का तो उस पर क्या प्रभाव पड़ना था; किन्तु अप्सराओं का नृत्य, गन्धर्वों का गान-वाद्य उसे बहुत अटपटा लगा - 'तुम सब पुण्यात्मा कहे जाते हो और यह पीं-पीं, टुन-टुन लगा रखी है। गायन ही करना है तो कन्हाई के गुण क्यों नहीं गाते?'

'आप?' इन्द्र ने अब तक ध्यान ही नहीं दिया था। अब हडबड़ा कर सिंहासन से उठे। जो उन्हें इस प्रकार डाँट सकता है, वह दिगम्बर बालक भले दीखे, सामान्य नहीं हो सकता। जब शक्र के सहस्त्र नेत्र भी उसे पहिचान नहीं पाते, पता नहीं कौन कितना प्रभाव लेकर आ धमका है। हकलाते बोले - 'आप सिहांसन स्वीकार करें! मुझे सेवा का सौभाग्य दें और यदि सृष्टिकर्ता ने यह पद....।'

बड़ा अस्थिर है इन्द्र पद। पृथ्वी पर सौ अश्वमेध यज्ञ करके तो प्राप्त होता है; किन्तु पता ही नहीं लगता कि कब यहाँ से किसे पदच्युत कर दिया जा सकेगा। असुर बलवान होते ही सुरों को मार भगाते हैं। कोई तपस्वी छीन ले सकता है इन्दत्व और कोई

ऋषि-मुनि प्रसन्न हो जाय किसी पर तो इसे ऐसे वरदान में दे सकता है जैसे भिक्षा में फेंक दिया हो।

'मुझे अपनी पुरी दिखला दो।' सुभद्र ने शक्र की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। पूजा करनी हो तो कन्हाई की करना। तुम्हारा यह स्वर्ग मुझ तो सड़ा-सड़ा लगता है। क्या बात है? यहाँ सड़ाँध क्यों है?'

'भगवन्! लगता है कि आप किसी दिव्यलोक से पधारे हैं।' अब हाथ जोड़ा पुरन्दरने - 'वहाँ प्रलय से पूर्व पतन का क्रम नहीं होगा; किन्तु यहाँ तो ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह इन्द्र मर जाते हैं। मैं प्रथम इन्द्र हूँ - स्वायम्भुव मन्वन्तर का इन्द्र। अभी-अभी इस लोक में आया हूँ। कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें।'

'मुझे यहाँ क्षयिष्णुता की गन्ध आती है।' सुभद्र ने सहज कहा।

'प्रतिपल यहाँ से प्राणी गिरते ही रहते हैं।' इन्द्र ने स्वीकार किया - 'पुण्यशेष होने पर किसी को एक पल भी यहाँ रहने नहीं दिया जाता। लेकिन आप हमारा नन्दनकानन देखकर प्रसन्न होंगे।'

'यह पारिजात है। सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पतरू!' इन्द्र ने बड़े उत्साह से अपने सुरोद्यान में पहुँचकर कल्पवृक्ष का वर्णन किया - 'आप यहाँ आ गये हैं, इससे कुछ भी माँग सकते हैं।'

'मूर्ख है तू!' सुभद्र स्वर्ग में पहुँचते ही खीझ गया था और वह खीझ मिटी नहीं थी - 'मैं भिक्षुक हूँ जो इस वृक्ष से मागूँगा? मेरा कन्हाई कृपण हो गया है?'

इन्द्र ने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया; किन्तु मन में प्रसन्न हो गये। यह बालक उन्हें पदच्युत कर देगा या स्वर्ग का कोई बड़ा पद ले लेगा, यह भय मिट गया।

'ये इतने आतंकित क्यों दीखते हैं।' देवोद्यान में बड़ी संख्या देवताओं की थी। अप्सराएं भी थी। सब आनन्द-विनोद में लगे थे; किन्तु इन्द्र के वहाँ पहुँचते ही एक ओर सिमटकर संयत खड़े हो गये थे। सुभद्र ने यह देखा तो पूछ लिया।

'मैं शतक्रतु हूँ - यहाँ का अधीश्वर!' इन्द्र ने अब सगर्व कहा - 'दूसरे सब सुरों को मेरा सम्मान करना पड़ता है और शासन मानना पड़ता है।'

'हूँ, तो सुरों में भी छोटे-बड़े हैं। इनमें भी स्पर्धा होगी।' सुभद्र ने खिन्न स्वर में कहा - 'यह विषमता क्यों है?'

'इनके पुण्यों के तारतम्य के कारण।' संक्षिप्त उत्तर दिया सुरेश ने।

'ये कल्पवृक्ष से अधिक पुण्य या उन्नत पद क्यों नहीं माँग लेते?' बालक सुभद्र को उन संकोच से एक ओर सिमटे सुरों पर दया आयी - 'ये इस वृक्ष से मुक्ति, भक्ति, ज्ञान तो माँग ही सकते हैं। इतने बड़े होकर भी इनमें इतनी समझ क्यों नहीं है?'

'कल्पतरु यह कुछ नहीं दे सकता!' इन्द्र को स्वीकार करना पड़ा - 'न मोक्ष, न धर्म। केवल अर्थ और काम के सम्बन्ध की कामनाएँ पूर्ण कर सकता है। ऐन्द्रियक भोग दे सकता है।'

'एक दरिद्र झंखाड़ तुमने लगा रखा है और मुझसे कह रहे थे कि मैं मांगू?' सुभद्र ने झिड़की दी इन्द्र को - 'मैं इससे कन्हाई की प्रीति माँगू तो?'

'आप मुझ पर और इस देवोद्यान पर दया कीजिये।' इन्द्र ने घबड़ाकर पैर पकड़ लिये - 'क्षीरोदधि से निकला वृक्ष दूसरा नहीं है कहीं। इसके बिना स्वर्ग श्रीहीन हो जायगा। आपने ऐसी कोई माँग की तो यह निश्चय अपनी असमर्थता की ग्लानि से सूख जायगा।'

'तुम समझते हो कि तुम्हारी यह पुरी बहुत श्रीसम्पन्न है?' सुभद्र ने मुँह बनाया - 'जहाँ क्षण-क्षण स्खलन से ग्रस्त है, पतन से त्रस्त है पुण्यात्मा प्राणी, अधमोत्तम की स्पर्धा है, वासनाओं की सड़ाँध व्याप्त है, वह पुरी यदि सुशोभन है तो अभागिनीपुरी और कौन-सी होगी?'

देवेन्द्र को इस समय मौन रहने में ही अपनी कुशल लगी। वे जिस स्वर्ग पर, जिस सुरपादप पर, जिस इन्द्रत्व पर अपार गर्व करते हैं, उस सबको जो इतने घड़ल्ले से भाग्यहीन बतला रहा है, वह भले दीखने में बालक हो, उसको रुष्ट करके अपने कल्याण की आशा नहीं की जा सकती।

'तुमने सौ अश्वमेध यज्ञ करके कोई बड़ा तीर नहीं मार लिया। यह सड़ा स्वर्ग मिला तुमको और वह भी सृष्टिकर्ता ने अपने एक दिन में चौदह को बाँटना निश्चित कर दिया।' अब गम्भीर बन गया

सुभद्र - 'मेरी मानो और भजन करो। अपनी सभा का यह नृत्य गीत बन्द कर दो। श्याम का सुयश गाओ-सुनो!'

'आपको कहीं किसी ने नहीं बतलाया कि स्वर्ग केवल भोग भूमि है?' इन्द्र ने विनयपूर्वक कहा - 'हम यहाँ कुछ भी करें, वह अपना फल देने में असमर्थ रहेगा'

'देवता मूर्ख होते हैं।' सुभद्र बालक है, कुछ भी बोल पड़ता है। आप इसकी बातों कों गम्भीरता से लें, यह उचित नहीं। यह तो कह गया - 'कन्हाई और उसका नाम, सुयश सब चिन्मय, आनन्दघन। उसका फल क्या? वह तो स्वयं फल है। अपनाओ और आनन्द में डूबे रहो; किन्तु तुम पुण्य करके उसके फल से स्वर्ग क्या आ गये, तुम्हें सर्वत्र फल ही चाहिये। तब दूसरा काम करो। इस निष्फल लोक में क्यों पड़े हो? जहाँ कर्म का फल होता है, वहाँ चलो।'

'हम इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं।' इन्द्र ने सिर झुकाये ही बतलाया - 'पुण्य समाप्त होने तक हमें यहीं रहना पड़ेगा और पुण्य समाप्त होने पर गिरा दिये जायेंगे।'

'अभागिनी है अमरावती।' सुभद्र को अरूचि हो उठी उस स्थान से। जहाँ केवल अर्जित पुण्य-सम्पत्ति को भोग से क्षीण ही करने का अवसर है - उपार्जन का कोई अवसर भी नहीं, वह भी कोई रहने या टिकने योग्य स्थान है।

सुभद्र को स्वर्ग में कुछ क्षण भी रुकने को कहना कठिन था। वह पता नहीं कब क्या कहे या करे। अतः इन्द्र ने सविनय विदा किया।

उदार यम-

अमरावती के अधिपति ने विदा तो किया सुभद्र को; किन्तु सुरपति ने अपनी स्वाभाविक कुटिलता का त्याग नहीं किया था। वे इसे नीति कहते हैं और आप जानते हैं कि उच्च पद पर पहुँचने वाला प्रत्येक व्यक्ति नीति को कितना अनिवार्य मानता है। यद्यपि नीति का सामान्य अर्थ कूटनीति है और वह व्यक्ति को सरल, सहज तो रहने नहीं देती, शान्त-निश्चिन्त भी नहीं रहने दिया करती। उसका काम ही सशंक रखना है।

सुरेन्द्र ने स्वर्ग के दक्षिण द्वार से सुभद्र को विदा किया। उनका अभिप्राय उसे यम के समीप पहुँचाना था। सचमुच सुभद्र संयमिनी पुरी ही पहुँचा; किन्तु श्याम के स्वजन कहीं पहुँचें, सृष्टिकर्ता ने उनके लिए संकट की स्थिति तो बनायी ही नहीं है।

स्वर्ग के स्वामी प्रमाद कर सकते थे। वे, क्या हुआ कि सौ अश्वमेध करके शक्र हुए थे, सामान्य जीव ही थे; किन्तु संयमिनी के स्वामी तो साधारण जीव नहीं होते। प्रचेता के समान वे भी कारक पुरुष होते हैं। वे द्वादश भागवताचार्यों में हैं। वे यदि प्रमादी होते तो कन्हाई उनकी स्वसा का पाणि स्वीकार करता?

आप उन्हें यमराज कहते हो; किन्तु हैं वे धर्मराज। अपने उत्तर द्वार पर सुभद्र का स्वागत करने स्वयं उपस्थित मिले। उन्होंने परिचय पूछने के स्थान पर अर्घ्य अर्पित किया और सादर ले जाकर अपने सिंहासन पर बैठाकर पूजन करने लगे।

जब कोई सविनय श्रद्धासहित सत्कार करता है, तब उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। सुभद्र शान्त बैठा रहा। पूजन पूर्ण हो जाने पर उसने पूछा - 'इस शान्त भव्यपुरी का नाम?'

'यह भयानक यमपुरी संयमिनी है।' यमराज ने हाथ जोड़कर निवेदन किया - 'और जिसे आपने आज यह अर्चन का सौभाग्य दिया है, यह इसका सर्वथा अनधिकारी महिषवाहन अकरुण यम है।'

'यह संयमिनी है?' सुभद्र ने चकित होकर चारों ओर देखा - 'इतनी भव्य और शान्त संयमिनी? इतने विनम्र आप और आपके ये सहज सरल अनुचर।'

'इस पुरी की एक विशेषता है।' यम ने बतलाया - 'इसकी चारों दिशाओं में चार द्वार हैं। यह भावपुरी प्रत्येक द्वार से आने वाले को भिन्न-भिन्न रूपों में दीखती है। उसी के अनुरूप मैं और

मेरे अनुचर भी दीखते हैं। उत्तर द्वार तो हमारा स्वागत द्वार है। इसी से देवर्षि यदा-कदा दया करके पधारते हैं। इसी से एक दिन यहाँ श्रीसंकर्षण के साथ स्वयं पुरुषोत्तम को पधारना है। यहाँ हमें धन्य करने आने वाले महापुरुष इसी द्वार से पधारते हैं।'

'दण्डपात्र पापी भी तो आते हैं यहाँ?' सुभद्र को उनकी स्थिति देखनेका कुतूहल जागा।

'वे हमारे दक्षिण द्वार से आते हैं।' यम ने बतलाया - 'लेकिन आप उधर से आने की इच्छा करेंगे तो यह पुरी स्वयं आपके लिए अदृश्य हो जायगी। सृष्टिकर्ता ने व्यवस्था ही ऐसी कर दी है कि यहाँ उचित अधिकारी को अपने अनुरूप द्वार से ही आना पड़ता है।'

'आपके पूर्व और पश्चिम द्वार से कौन आते हैं?' जब अपनी इच्छानुसार किसी द्वार से यहाँ आना सम्भव ही नहीं तो पूछ कर ही जानना एकमात्र उपाय रहा।

'पूर्व द्वार से पुण्यात्मा या साधक आते हैं। उन्हें स्वर्ग अथवा अन्य उत्तम लोकों में भेजने की व्यवस्था यहाँ है।' यमराज ने बहुत संक्षिप्त परिचय दिया - 'पश्चिम द्वार आगतों के लिए नहीं है। यहाँ

की यातना से परिशुद्ध प्राणी उसी द्वार से धरा पर जन्म लेने जाते हैं।'

'सब जीवों को यहाँ आना पड़ता है?'

'केवल मर्त्यलोक के मनुष्यों को।' धर्मराज ने कहा - 'जो कर्मयोनि का प्राणी है, उसी के कर्मों का निर्णय आवश्यक है। उनमें भी सब नहीं आते। जो योगी या पुण्यात्मा देवयान से जाकर परमपद पाने वाले हैं, वे अथवा मुक्त पुरुष यहाँ नहीं आते। श्रीहरि के शरणागत, उनके आश्रितों का तो मेरे यहाँ कोई विवरण ही नहीं रहता। उनके स्वामी ही उन्हें स्वधाम ले जाते अथवा उनकी व्यवस्था करते हैं। मुझे उन लोगों के सम्बन्ध में सोचने का भी अधिकार नहीं।'

'आपके यहाँ कहीं नरक भी तो हैं।' सुभद्र ने कहा - 'आप कृपा करके मुझे उन्हें देखने देंगे?'

'मुझसे कोई अपराध हो गया?' यमराज घबड़ाकर खड़े हुए और सुभद्र के पैरों पर सिर धर दिया उन्होंने - 'आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे?'

'लेकिन मैंने तो आपके अपराध की बात कही नहीं।' सुभद्र चौंक गया।

'आपने अभी कर्मलोक देखा भी नहीं है।' यमराज ने कहा - 'आप वहाँ से सब मर्यादाएँ भंग करके भी आये होते वो भी हम आपका इसी द्वार से स्वागत करते। आपके सखा का मैं अत्यन्त छुद्र सेवक - आप नरकों की ओर से दूर से भी निकल जाय तो वे नष्ट हो जायेंगे। पुण्यात्मा प्राणी से कोई प्रमाद होता है तब उसकी परिशुद्धि नरक-दर्शन का दण्ड बनती है।'

'इसका अर्थ है कि मैं आपके यहाँ कुछ देख नहीं सकता।' सुभद्र ने सिर झुकाकर सोचा। उसे अब पूछकर ही जो पता लगे, वही जान सकेगा। उसने पूछा - 'आप प्राणियों को कितना दण्ड देते हैं?'

'आप जानते हैं कि आपके सखा को उदारता का अन्त नहीं है। दण्ड देने की बात तो वे तब सोचते हैं जब कोई उनके स्वजन का अपराध करे।' यम ने कहा - 'उनके विधान में दया है, दण्ड नहीं है।'

'मैं तो आपके विधान की बात पूछता हूँ।' सुभद्र को अपने सखा का स्वभाव कहाँ अज्ञात है।

'मेरा विधान कैसा? सृष्टि में, सभी ब्रह्माण्डों में केवल उनका विधान ही चलता है।' यमराज ने बतलाया - 'यह संयमिनी का स्वामी तो उनके विधान को सक्रिय रखने वाला एक अत्यन्त सामान्य सेवक है।'

'आप किसी को दण्ड नहीं देते?' सुभद्र को अद्भुत लगी यम की बात।

'परिशोधन के प्रयत्न का नाम ही दण्ड पड़ गया है।' अब धर्मराज ने पूरी बात समझायी - 'कर्मयोनि में जाकर प्राणी एक क्षण में इतने पाप या पुण्य कर लेता है कि उसका परिणाम उसे युगों तक प्राप्त होता रहे। अतः जब वह देह त्यागकर यहाँ आता है, उसके पुण्य या पाप इतने अधिक हुए कि किसी पार्थिव शरीर में जाने योग्य वह नहीं है तब उसका प्रक्षालन करना आवश्यक हो जाता है। आप जानते हैं कि अंगराग को भी अन्ततः दूर करना पड़ता है। पुण्य अधिक हुए तो उसे भोग देह देकर पूर्व द्वार से स्वर्ग या उपयुक्त लोक भेज दिया जाता है। पाप अधिक हुए तो इस मल को दूर करने के लिए उसे यातना देह मिलता है। ऐसे अनेक मल

होते हैं जो केवल धोने या रगड़ने से नहीं दूर होते। संताप आवश्यक होता है। इसमें कष्ट होता है प्राणी को; किन्तु उसे स्वच्छ तो करना ही है। शोधन को सह सके, इसलिए यातना देह देकर उसे कम-से-कम कष्ट हो ऐसा विधान है। वह जैसे ही पार्थिव किसी देह को भी पाने योग्य हो जाता है, एक क्षण भी उसे यहाँ रोका नहीं जाता।'

'अन्तर्यामी हृषीकेश कर्मयोनि के प्राणी को अपथ पर जाने से बार-बार रोकते हैं।' तनिक रुककर यमराज सखेद बोले - 'लेकिन वह उनकी चेतावनी पर ध्यान नहीं देता। अपने को मलिन करने में सुख मानता है और तब उसे परिशुद्ध तो करना पड़ता है।'

'आपके यहाँ सब प्राणियों का कर्म-विवरण रहता है?' सुभद्र ने पूछा।

'सबका कर्म-विवरण ही कहाँ होता है। केवल मनुष्य ही कर्मयोनि का प्राणी है। उसमें भी जो परमपद की इच्छा करते हैं, उनको सर्वेश सम्हाल लेते हैं। उनकी प्रगति और भोग का विधान वे ही करते हैं।' यमराज ने बतलाया - 'यहाँ केवल वे आते हैं, जिन्हें कर्मचक्र में अभी पड़े ही रहना है। जिन भाग्यहीनों ने अभी

इससे परित्राण की इच्छा ही नहीं की, केवल उनका कर्म-विवरण हमारे चित्रगुप्तजी रखते हैं।'

'आप उस विवरण के अनुसार दण्ड-विधान करते हैं?' सुभद्र ने चित्रगुप्त से पूछा, जो समीप ही हाथ जोड़े खड़े थे।

'मेरा काम तो केवल विवरण रखना है।' चित्रगुप्त ने ऐसे कहा जैसे वे अपने को निरपराध बतला रहे हों। उन्हें भय लग रहा था। यह जो बालक आया है, वह उनके सब विवरण फाड़ डाले तो इसे कोई रोक पावेगा? यहीं यह चित्रगुप्त के ही कान पकड़े तो?

'परिशोधन के लिए आवश्यक होता है यह जानना कि मल कितना और किस प्रकार का है।' यमराज ने कहा - 'दण्ड का तो प्रश्न ही नहीं है; किन्तु यह तो देखना ही पड़ता है कि किसी प्राणी को तनिक भी अधिक पीड़ा न प्राप्त हो। केवल उतना शोधन जितना उसे फिर कर्मलोक भेजने को पर्याप्त हो।'

'आप अत्यन्त उदार हैं।' सुभद्र सन्तुष्ट हो गया - 'लेकिन आप और ये चित्रगुप्तजी भी इतने समय से मेरे सम्मुख हैं। आपके दूसरे द्वारों से आगत प्रतीक्षा करते होंगे। मैंने व्यर्थ आपका समय नष्ट किया।'

'आपके सखा जैसे एक ही समय असंख्य रूपों से क्रीड़ाएँ करते रहते हैं, कृपा करके उन्होंने इस सेवक को भी वैसी किञ्चित क्षमता दे रखी है।' यमराज ने कहा - 'चित्रगुप्तजी के विवरण स्वत: इनके खातों में चढ़ते रहते और मेरे यम, यमधर्म आदि चार रूप हैं। चारों द्वारों में एक साथ मैं वहाँ के कार्यों का निर्वाह करता रहता हूँ। '

'मैं यहाँ से अब मर्त्यधरा पर जाऊँ तो आप मुझे सहायता देंगे?' सुभद्र ने अकस्मात पूछा। पता नहीं क्यों उसके मन में यह बात उठी।

'आपको हम सें किसी की सहायता की अपेक्षा ही कहाँ है।' यमराज ने कहा - 'लेकिन आप वरुण और कुबेर को कृतार्थ कर दें। गन्धर्व लोक में जा सकते हैं यदि अपने सखा का सुयश सुनना हो। मर्त्यलोक का मुख्य मार्ग तो पितृलोक से है, यदि वहाँ पार्थिव देह स्वीकार करना हो।'

यमराज ने कहा नहीं; किन्तु सुभद्र को स्मरण आ गया कि देवर्षि ने कहा है कि इस देह से धरा पर जाने पर वहाँ उसे केवल अधिकारी देख सकेंगे।

गन्धर्व लोक-

अभी सुभद्र संयमिनी के उत्तर द्वार से निकला ही था। अकस्मात् उसके सामने एक अद्भुत नगर प्रकट हो गया। आपने कभी सुना है?

गन्धर्व नगरोपम्या स्वप्न माया मनोरथा।

स्वप्न, इन्द्रजाल के दृश्य और मनोरथ - कल्पनाओं की उपयुक्त उपमा है गन्धर्व नगर।

आकाश में हलके बादल हों तो उनमें अनेक बार हाथी, घोड़े, सेना, वृक्षादि बनते-मिटते दीखते हैं। इसे कहते हैं गन्धर्व नगर।

सुभद्र के सम्मुख जो नगर अकस्मात् प्रकट हुआ था, वह गगन में मेघों में प्रतीत होने वाले नगर से इस अर्थ में भिन्न था कि उसमें सभी रंग थे और उसके सम्पर्क में पहुँचा जा सकता था। वैसे वह भी क्षण-क्षण रूप रंग बदल रहा था और इतना सुकोमल लगता था, जैसे सघन मेघों से ही बना हो।

'तुम्बरू आपका स्वागत करता है!' सुभद्र उस नगर के द्वार तक भी नहीं पहुँचा था कि सुमधुर संगीत गूजने लगा। द्वार से बाहर आकर गन्धर्वराज ने उसे अर्घ्य अर्पित किया।

'आपसे मैं परिचित हूँ।' सुभद्र को भी लगा कि वह आगत गन्धर्वराज को देख चुका है।

'दया करके देवर्षि अनेक बार मुझे अपने साथ परिभ्रमण में ले जाते हैं।' तुम्बरू ने कहा - 'उनके अमोघ संग का प्रभाव है कि मुझे भी श्रीहरि के सुयश ही प्रिय लगते हैं।'

'वस्तुत: हम सब सुर-सेवक हैं और हमारा यह नगर, अमरावती का ही एक उपनगर है। सो भी कल्पना-नगर।' गन्धर्वराज के साथ भीतर जाने पर जब पूजा हो चुकी, एक किन्नर ने परिचय दिया - 'हम कला-जीवियों की रुचि बहुत कोमल होती है। हमें एक ही ढंग और वस्तु दूसरों की अपेक्षा शीघ्र उबा देती है। अत: हमारे नगर का कोई ठोस अस्तित्व और स्थिर रूप नहीं है। यहाँ प्रत्येक की रुचि के अनुरूप पल-पल परिवर्तन होता रहता है।'

'आपका आकार?' सुभद्र उस अश्वप्राय-मुख किन्नर को ध्यान से देख रहा था। बहुत सुस्वर वाणी थी उसकी और मुख के अतिरिक्त शेष शरीर बहुत सुगठित, कोमल, सुन्दर था। मुख भी था तो मनुष्य का ही; किन्तु लम्बा और अश्व से मिलता-जुलता। लेकिन गन्धर्व तो बहुत सुन्दर थे।

'हम सुर-गायक हैं।' किन्नर ने कहा - 'हमारा मुख उग्र-मृदुल दोनों स्वरों को व्यक्त करने योग्य है; किन्तु किन्नरियाँ और गन्धर्व कन्याएँ केवल कोमल स्वर ही उच्चरित कर पाती हैं।'

'हम गन्धर्व वस्तुतः वाद्य विशेषज्ञ हैं।' तुम्बरू ने सुभद्र को अपनी ओर देखते देखा तो बोले - 'वैसे वादक को संगीत का मर्मज्ञ तो होना ही पड़ता है और गायन भी अवसर आने पर हम करते हैं - कर सकते हैं; किन्तु हम अपने इन गायक मित्रों के पूरक हैं।'

'हमको अत्यल्प अवकाश है अपनी इस पुरी में रहने का।' किन्नर ने कहा - 'सुरेन्द्र तथा दूसरे सुरों की संगीत-सभा लगी ही रहती है और अप्सराओं का नृत्य हम किन्नरों के गान तथा गन्धर्वों के वाद्य के बिना तो सरस बन नहीं सकता। इसीलिए हमको ब्रह्मलोक तक आह्वान करता रहता है।'

'सुरों की संगीत-गोष्ठी' सुभद्र को अमरावती की इन्द्रसभा का स्मरण आ गया - 'भगवती शारदा का प्रसाद केवल वासना-विमत्त वर्ग का विनोद बनने के लिए है?'

'आपकी वाणी के यथार्थ को हम अस्वीकार नहीं करते।' किन्नर ने किञ्चित लज्जानुभव व्यक्त किया - 'विडम्बना यही है कि कलाजीवी प्रोत्साहन एवं प्रश्रय चाहता है। स्वयं अपनी सम्हाल और संग्रह में हम लग जायँ तो कला की साधना, सेवा बनती नहीं और ऐसा प्रश्रय प्रायः उसी वर्ग से मिलता है, जिसे आप विलासी कहते हो।'

'हम में जो भी सफल साधक हैं, जिन पर भगवती वीणापाणि ने सचमुच कृपा की है, वे विलासी वातावरण से वितृष्ण होते हैं।' तुम्बरू ने कहा - 'काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य तथा तक्षणादि सब कलाओं के सम्बन्ध में परम सत्य यही है कि उनकी सार्थकता ही श्रीहरि की सेवा में है। यह भी कि उन पूर्ण पुरुषोत्तम का प्रसाद बने बिना कहीं पूर्णता नहीं आया करती।'

'आपका यह लोक' सुभद्र अधिक कला-चर्चा में रस ले सके, ऐसी मनोवृत्ति उसकी नहीं। बालक गम्भीर चर्चा क्या जाने

और सुभद्र को तो वाद्य, नृत्य, संगीत में भी रस नहीं। इसे अपने कन्हाई के नृत्य और वंशी ध्वनी से श्रेष्ठ संगीत-नृत्य कोई दे सकेगा?

'हमारा लोक यदि सुस्थिर, कोई एक रूप स्थिर होता तो हम आपको नगर-भ्रमण करा देते किन्तु इसे आप जैसा देखना चाहते हैं। यह तो यहीं वैसा बनता जा रहा है।' तुम्बरू ने अब अञ्जलि बाँधकर प्राथना की - 'जिसके समीप जो होता है, उसी से वह श्रीहरि और उनके जनों की सेवा करता है। हमारी सम्पत्ति तो गायन, वाद्य, नृत्य है। आप आ गये हैं तो हमें सेवा का सौभाग्य दें। हमारी कला भी सार्थक हो, कृतार्थ हो।'

'ऐसा नहीं है कि हमारी कला विलास-कलुष ही हो।' किन्नर ने भी हाथ जोड़ा - 'श्रीहरि की आराधना का इसे श्रेष्ठ साधन महर्षियों ने स्वीकार किया है। हम आपके सखा के सुयश को ही साकार करने का प्रयत्न करेंगे।'

'मैं कन्हाई का कीर्ति-मान सुनने ही यहाँ आया।' सुभद्र प्रसन्न हो गया। संयमिनी से यह संकल्प लेकर न चला होता तो यह गन्धर्वपुरी उसके सम्मुख प्रकट ही क्यों होती।

वहाँ कोई आयोजन नहीं करना था। उस संकल्प पुरी में तो सोचा और साकार हुआ। अत्यन्त विशाल सभा-भवन सुसज्ज दीखा जहाँ वे बैठे थे और दिशाएँ सुरभि से झूम उठी थी।

सुभद्र भी एक बार खिल उठा। उसे लगा कि अपने गोलोक के पश्चात् यहीं उसे सौन्दर्य एक साथ इतना देखने को मिला है। क्या हुआ कि वह अवर्णनीय दिव्यत्व नहीं और न वह सहज भाव - यहाँ सब में संकोच का सम्मिश्रण है; किन्तु जो सहस्त्र-सहस्त्र किन्नरियाँ, गन्धर्व-कन्याएं आ गयी थीं नृत्य के लिए सुसज्ज - सौकुमार्य, ललित लावण्य की वे साक्षात् प्रतिमाएँ।

गन्धर्व तरुणों ने विविध वाद्य मिला लिये क्षणार्थ में और किन्नरों की स्वर लहरी के साथ वे सुषमा की मूर्तियाँ लहराने लगी।

व्रजराज दुलारे भूल न जाना।
आना, आना, हमारे घर आना।
भटक न जाना।।

छहर छहर मोर मुकुट।
लहर लहर वनमाल।

गोपाल प्यारे,
भुजभर हृदय लगाना।
हमें भूल न जाना॥
भले फूटे दधिभाण्ड,
क्षीरोदचि प्रवह-माण्ड
नवनी भोग लगाना;
कहीं भटक न जाना॥

व्रजराज दुलारे!
कन्हाई प्यारे!
मोर मुकट वारे!
हमें भूल न जाना!

सुभद्र डूब गया - भूल गया कि वह कहाँ बैठा है। भूल गया कि सुर-सुन्दरियों का भी तिरस्कार कर सकें ऐसी सहस्त्रशः किन्नरियाँ, गन्धर्व-कन्याएं सम्मुख थिरक रही हैं स्वर की लहरी पर। गन्धर्वों के वाद्यों और किन्नरों के संगीत के साथ राग-रागिनियों के अधिदेवता साकार हो गये हैं।

सुभद्र का दिव्य देह रोमाञ्चित हुआ, स्वेद स्नान हुआ और कम्पित होने लगा। ऐसा कम्प जैसे प्रबल शीतज्वर में भी कदाचित ही होता है।

कलाकार ही नहीं जो अपनी कला को जब रूप देने लगता है, तब सावधान रह सके। वहाँ सब स्वर तन्मय थे। किसी को अपने ही शरीर का स्मरण नहीं था तो यह कैसे पता लगता कि सुभद्र कब मूर्च्छित हो गया है।

'कन्हाई! कनूँ!' मूर्छा में भी जैसे हृदय हाहाकार करके पुकार रहा हो।

'भूल न जाना!' क्या है, क्या है यह? इतना आग्रह, इतना प्राणों में प्रवेश करता अनुरोध, तो अपना कन्हाई भूल भी जा सकता है?

स्वर, संगीत, नृत्य-कला क्या जो भाव को हृदय का सच्चा भाव न बना दे। सुभद्र का हृदय मथ उठा - जैसे फट जायगा - 'कन्हाई भूला भी जा सकता है?'

लेकिन कन्हाई - व्रजेन्द्रनन्दन अपनों को भूला नहीं करता। गन्धर्व-कन्याओं को पता नहीं लगा, किन्नरियों को भी पता नहीं लगा कि कब उनके नृत्य करते पद रुके और वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं।

वाद्य लिये गन्धर्वगण मूर्छित पड़े थे। उनके कर जैसे थे वैसे ही रह गये थे और किन्नरों के मुख आलाप लेते खुले रह गये थे।

भुवन-मोहिनी मुरली बजती है तो कहीं कोई सावधान रह पाता है? लेकिन उस अमृतनाद ने सुभद्र को सावधान कर दिया। उसकी मूर्छा भंग हुई और वह ताली बजाकर हँस पड़ा - 'भला अपना कन्हाई भी कहीं भूला करता है।'

'कलाकार भावुक होते हैं। ये सब केवल टिन्-पिन् ही नहीं करते, झटपट थककर सो भी जाते हैं।' उसने मूर्छिता गन्धर्व-कन्याओं और किन्नरियों को भी देखा - 'ये छुई-मुई-सी लड़कियाँ - बहुत उछली-कूदी, अब इन्हें सोना चाहिये।'

सुभद्र चुपचाप धीरे से खिसक चला। मूर्छा टूटने पर सब स्वत: समझ लेंगे कि अतिथि भाग गया।

वायु लोक-

अनारोपिताकार प्रवाहमान वायु का कोई लोक नहीं हो सकता; किन्तु वायु लोकपाल हैं। उनकी दिशा है। पश्चिम-उत्तर के मध्यकोण को आप वायव्य कोण के नामसे जानते हैं। इसका अर्थ ही है कि वायु देवता हैं और साकार देवता हैं। इसलिए वायु का लोक है।

जैसे दीखनेवाले चन्द्र और सूर्य केवल पार्थिव पिण्ड हैं, पृथ्वी पिण्ड है, लेकिन इनके अधिदेवता हैं। आप भूमि पर रहते हों; किन्तु साकार भूदेवी को जानते हो? ऐसे ही चन्द्रदेव या सूर्यनारायण भी आपसे अपरिचित हैं। अपरिचित ही हैं वायुदेव भी। आप तो केवल स्थूल उस वायु को जानते हो जिसकी तन्मात्रा स्पर्श है, जिसका गुण स्पर्श है, जिसके द्वारा आप कोमल-कठिन, शीत-उष्ण का ज्ञान प्राप्त करते हो।

यहाँ इस प्रवाहमान वायुतत्त्व की चर्चा नहीं। चर्चा इस वायु के अधिदेवता की और उनके लोक की। सुभद्र अचानक चल पड़ा था गन्धर्वलोक से और अनिच्छापूर्वक संयोगवश ही वायु लोक पहुँच गया।

इन्द्र की कृपा और माता द्वारा श्रीहरि की आराधना ने दिति-पुत्र होने पर भी जिन्हें देवत्व दे दिया वे उनचास वायु सशरीरी मिले सुभद्रको।

वायु लोक और उसके शरीर जैसे दीखकर भी न दीखते हों। वे पारदर्शी हैं अथवा सुचिक्कण, कोमल हैं या केवल कोमल लगते हैं - कुछ निश्चयपूर्वक उनके सम्बन्ध में कहा नहीं जा सकता।

अपने ढंग से उस वायु लोक में सुभद्र का स्वागत हुआ। उसे लगा कि अत्यन्त सुखद स्पर्श उसे प्राप्त हो रहा है। ऐसा तो नहीं जैसा तब प्राप्त होता है जब कन्हाई कण्ठ में भुजाएँ डालकर लिपट जाता है। उसकी तो समता नहीं? वह तो प्राणों में बसा है। लेकिन इतना सुखद स्पर्श जिसकी सृष्टि में समता नहीं। कोई वस्तु छूती नहीं लगती थी; किन्तु स्पर्श का सीमाहीन सुख मिल रहा था।

'आप सब कितने हैं?' सुभद्र ही था कि वहाँ बोल सका। दूसरा कोई होता तो उस सुख स्पर्श मे डूब जाता।

'तुमने हमको एक ही समझा होगा।' प्राण वायु ने ही सबका नेतृत्व किया।

'आप सब इतने दीखकर भी एक दीखते हो।' सुभद्र ने अपने आश्चर्य का कारण स्पष्ट किया।

'हम एक ही माता के उदर से एक साथ उत्पन्न एक शरीर के ही इतने भाग हैं।' प्राण ने कहा - 'इन्द्र ने हमारे इतने भाग कर दिये माता के उदर में ही; किन्तु हमको कृपा करके भाई बना लिया।'

'इसी से कहीं कोई समझ नहीं पाता कि आपमें-से कौन कहाँ सक्रिय है।' सुभद्र ने सहज कहा।

'प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान का भेद मानव-शरीर के विशेषज्ञ समझ गये हैं।' प्राण ने ही कहा - 'योगीगण नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय की स्थिति शरीर में और इनका कार्य भी जानते हैं।'

'आँधी, झञ्जा और सामान्य वायु का अन्तर भी समझना सरल है।' सुभद्र ने कहा।

'आप हमारे और भी कई भेद सरलता से समझ सकते हैं।' प्राणवायु ने बतलाया - 'सागर में लहरें उठती हैं, ग्रहों में गति है

और पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। इस सबका कारण भी हमको ही रहना पड़ता है।'

'मैं चलता हूँ इसके कारण भी?' सुभद्र ने हँसकर पूछा।

'जहाँ भी गति है' वह अणु की हो या प्राणी की, गति का वहन तो हमारा कार्य है।' प्राण ने समझाया - 'सृष्टिकर्ता ने यह सेवा हमें दे रखी है। विभिन्न रूपों में हम इसे सम्पन्न करते हैं।'

'साथ ही अदृश्य रहते हैं और सबमें प्रविष्ट भी रहते हैं।' सुभद्र ने सोचकर कहा - 'आप सब सदा सक्रिय रहते थकते नहीं?'

'हम सब सदा सक्रिय नहीं रहते। हम में से कुछ की सक्रियता केवल प्रलय के निमित्त जागती है।'

'यहाँ वे सोते रहते हैं?' सुभद्र को कुतूहल हुआ।

'हमारा यह लोक तो केन्द्र है। प्रत्येक शक्ति का केन्द्र शिथिल-शान्त ही दीखता है।' वायु को भी समझाने के लिए शब्द नहीं मिल रहे थे - 'लेकिन हमारा यह भ्रम कि हम स्वयं अनन्त शक्ति, सर्व समर्थ हैं, उस दिन मिट गया जब सर्वेश्वर यक्ष रूप में

प्रकट हुए। उनके सम्मुख हम सब मिलकर भी एक तृण को उड़ा नहीं सके थे। शक्ति तो उनका प्रसाद है।'

'कन्हाई ने आप लोगों के साथ भी नटखटपना दिखाया लगता है।' सुभद्र हँसा - 'वह है ही ऐसा।'

'वे अतिशय उदार तथा कृपामय हैं।' वायु ने विनम्रतापूर्वक कहा - 'उन गर्वहारी ने उचित समय पर हमें समझा दिया कि वही शक्ति-स्वरूप हैं। हमको भले शक्र ने देवत्व दे दिया; किन्तु हैं तो हम इन्द्र के किंकर ही। हमारा अभिमान उचित नहीं था।'

'आपका लोक......।' सुभद्र वायु लोक के लगभग द्वार पर ही है - 'यह उसने अनुभव किया। वहाँ के लिए देखने का प्रयोग नहीं किया जा सकता, लेकिन बालक सुभद्र सोचता था कि वह इस लोक को भी देखेगा।

'शक्ति का केन्द्र अप्रवेश्य होता है। वहाँ कोई भी अन्य व्यक्ति या तत्त्व प्रवेश करे तो क्षोभ उत्पन्न होता है।' वायुदेव ने कहा - 'आप हमें क्षमा करें। आप भी नहीं चाहेंगे कि सम्पूर्ण सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाय।'

'मैं किसी व्यवस्था में व्याघात नहीं बनना चाहूँगा।' सुभद्र समझ गया कि वायु के लोक को भी दृश्य नहीं बनाया जा सकता। अतः इन उनचास वायु देवताओं से ही पूछकर उनके सम्बन्ध की जानकारी पानी पड़ेगी - 'आप सब सम्पूर्ण वस्तुओं में व्याप्त रहते हैं।'

'आप ऐसा कह सकते हैं।' प्राण वायु ने ही कहा - 'हमारी दृष्टि से तो कोई वस्तु है ही नहीं। हमारा ही घनीभाव सृष्टि है।'[2]

'हमारा यह लोक गति का केन्द्र है।' सुभद्र को सोचते देखकर वायु - प्राण वायु ने ही कहा - 'इस केन्द्र में हममें-से कुछ शान्त स्थिर रहते हैं। वे भी सक्रिय हो जाये तो सृष्टि में गति इतनी उग्र-प्रचण्ड हो उठती है कि प्रलय हो जाती है। कुछ हममें-से सदा सक्रिय रहते हैं और कुछ विशेष अवसरों पर शक्र के संकेत से सक्रिय होते हैं।'

---

[2] इसीलिए सब पदार्थों का वाष्पीकरण सम्भव है। भारतीय दर्शन के अनुसार वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। अतः ठोस पदार्थों को तरल और तरल को वाष्प बना दिया जा सकता है।

'सृष्टि में अकस्मात् उपद्रव शक्र क्यों कराता है?' सुभद्र को इन्द्र अच्छा नहीं लगा था। यहाँ का विवरण सुनकर फिर झुँझलाहट जागी - 'यह इसीलिए सुरपति है?'

'शासक को कभी कठोर भी होना पड़ता है।' प्राण वायु को लगा कि किसी प्रकार इस बालक को सन्तुष्ट करना चाहिये। इसका क्षोभ यदि शक्र के लिए कोई अपशकुन बने, वायुगण को भी बुरे दिन देखने पड़ सकते हैं। अतः उन्होंने प्रसंग परिवर्तित किया - 'आपने सुना होगा कि समस्त सिद्धियाँ प्राणायाम का प्रसाद हैं। प्राणायाम का अर्थ ही है हमारी गति का नियन्त्रण।'

'मुझे नासिकोत्पीड़न अच्छा नहीं लगता।' सुभद्र हँस पड़ा - 'कन्हाई किसी जटाधारी के साथ कभी परिहास करना चाहता है तो तुम्हारी ये सिद्धियाँ दे देता है। बेचारा कभी चिड़ियों की भाँति उड़ता है और कभी छोटा या बड़ा बनता है। कभी भारी या हल्का होता है। यह कान पकड़कर उठने-बैठने के समान व्यायाम - आज पता लगा कि आप लोग ही इन जटा-जूटवाले लोगों को बहकाकर इन्हें उलझा देते हो।'

यह अच्छी रही। वायु देवता ने तो सिद्धि का वरदान देना चाहा था। उलटे उन्हें चिन्ता हुई कि कहीं शाप न प्राप्त हो जाय। झटपट बोले - 'हमारा कोई अपराध नहीं है। हम तो किसी को भी सिद्धि न दें; किन्तु स्वयं प्राणी प्रलुब्ध होकर श्रम करता है, तब उसका अभीष्ट उसे न देना क्या उचित होगा?'

'अनिच्छुक को आप सिद्धि नहीं देते?' सुभद्र के स्वर में झिड़की थी। वह स्वयं कहाँ कोई सिद्धि चाहता है कि उसके सम्मुख यह प्रस्तावना प्रारम्भ की गयी।

'हम अपनी शक्ति के अनुसार सेवा को प्रस्तुत हैं, केवल इतनी सूचना देना था मुझे।' प्राण वायु को अपनी भूल समझ में आ गयी थी - 'वैसे अनिच्छुक साधक की सेवा में भगवती माया जब सिद्धियाँ भेजना चाहती हैं, हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हममें इतनी क्षमता ही नहीं है।'

'यह छोटी बहिन भी कन्हाई के समान ही नटखट है।' सुभद्र हँस पड़ा। 'इसे भी कुछ खटपट करते रहने को चाहिये। यह भी शान्त नहीं बैठ सकती।'

'वत्स! तुम किसे शान्त बैठा रहे हो?' सहसा एक ओर से शब्द आया। 'सृष्टि में जीवन कहते ही गति को हैं और यह कभी निर्णय नहीं हो पावेगा कि वायु से मेरा भेद कहाँ है। वैसे मैं गति के स्थान पर उष्णता को जीवन कहता हूं।'

सुभद्र ने देखा कि द्विमूर्धा, सप्तजिह्वा अग्निदेव अपने बकरे से उतर रहे हैं तो उसने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

'इन वायु देवताओं ने बता दिया होगा कि शक्ति का केन्द्र अप्रवेश्य होता है।' अग्निदेव ने आशीर्वाद देकर कहा - 'इसलिए मैं तुम्हें अपने लोक की स्थिति समझा देने यहीं आ गया।'

अग्नि लोक-

'अग्नि और वायु अभिन्न हैं।' अग्निदेव ही कह रहे थे - 'वायु से हमारी उत्पत्ति हुई, केवल इस अर्थ में ही नहीं और इस अर्थ में भी नहीं[3] कि हम नित्य सहचर हैं। इस अर्थ में भी कि हम एक-दूसरे का रूप, कार्य भी सम्पादन करते हैं। गति का ही दूसरा रूप ऊष्मा है।'

'जैसे हम उनचास हैं, अग्नि भी उनचास हैं।' प्राण वायु ने बतलाया - 'लेकिन हम जैसे सब सगे भाई हैं, वैसे नहीं। इन अग्निदेव का परिवार तो पुत्र-पौत्र सहित पूरा होता है।'

'अग्निदेव स्वयं धर्म के पुत्र हैं। उनके तीन पुत्र हुए - पावक, पवमान और शुचि। इन तीनों के पन्द्रह-पन्द्रह पुत्र हुए। इस प्रकार यह परिवार उनचास का हो गया।

'केवल वैदिक यज्ञ में हमारे पूरे परिवार को स्मरण करके आहुति दी जाती है। अन्यथा तो उनका स्मरण कोई करता नहीं। प्रलय में ही सब अग्नि सक्रिय होते हैं।' अग्निदेव ने समझाया -

---

[3] आकाशवायु, वायोरग्नि:, अग्नेराष: आपात् पृथिवी ।- सांख्य

'संसार का काम हमारे त्रिविध रूपों से चल जाता है। तुम भौम (काष्ठादि से जलने वाले), दिव्य (विद्युत) और जाठर (पाचन क्रिया करनेवाले) हमारे रूपों से परिचित हो।'

सुभद्र बालक था। कर्मकाण्ड के विद्वान ही गार्हस्पत्य, आवहनीय, सभ्याग्नि और दक्षिणाग्नि का भेद जानते हैं। वैसे वैदिक विद्वान तो आवसथ्य तथा औषस अग्नि से भी परिचय रखते हैं।

साधारणत: हम-आप साधारण अग्नि जानते हैं जो हमारे-आपके काम आते हैं। अब तो दिव्य अग्नि - विद्युत के रूप में हमारे अधिक उपयोगी हो गये हैं। समुद्र में वाड़वाग्नि और ज्वालामुखी कहीं फूटता है तो पृथ्वी के पेट में रहनेवाले अग्नि प्रकट होते हैं। ऐसे ही आहार के पाचान की क्रिया जिस उष्णता से होती है, उसे जठराग्नि कहा जाता है।

केवल वन्य जातियाँ और बहुत निपुण वन-विभाग के कर्मचारी ही सामान्य अग्नि और दावाग्नि का भेद पहिचान पाते हैं। विज्ञान तो अभी इस विषय में कुछ जानता नहीं।[4]

---

[4] किसी के द्वारा लगायी या लगी अग्नि वन में एक ओर से बढ़ती है। लेकिन दावाग्नि का स्वभाव दोनों किनारों से घेरा बनाते बढ़ना

अभी किसी ने वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया। कोई करे तो अनेक अग्नियों के भेद मिल जायँगे। आयुर्वेद स्वर्ण और पारद को अग्नि ही मानता है। एसिड (तेजाब) अग्नि ही है, यह आप जानते हैं और बारूद को अग्नि मानने में कोई आपत्ति करेगा?

'वत्स! संग-दोष बहुत बलवान होता है।' वायुदेव ने कुछ व्यंग के साथ कहा - 'सर्वभक्षी होने का शाप तो अग्निदेव को प्राप्त हुआ; किन्तु इनके संग के कारण मैं भी स्वग्राही हो गया।'

'यह अनिवार्य नियम मत मान लेना।' अग्नि ने प्रतिवाद किया - 'मेरा लोक वायु लोक से सर्वथा विपरीत दिशा में है। पूर्व-दक्षिण का कोण मेरा। इतनी दूर वायु लोक, और मेरी अपनी पत्नी स्वाहा परम पवित्र है। वह केवल सुरों की आहुतियों का वहन करती है। उसके पातिव्रत ने उसे संग-दोष से असंपृष्ट रखा। समर्थ पुरुष संग को अपने समान बना लेते हैं। उससे स्वयं दूषित नहीं हुआ करते।'

'आपका लोक?' सुभद्र ने पूछा।

और मध्य के क्षेत्र को छोटा करते जाना है। वनवासी दावाग्नि पहिचानकर घिर जाने से पहिले भाग पड़ते हैं।

'वह तुम सुकुमार के देखने योग्य नहीं है।' कहकर भी अग्निदेव सावधान हो गये - 'मैं जानता हूँ कि तुम सूर्यमण्डल हो आये हो। मेरा लोक उतना ही दाहक; किन्तु वहाँ हम सब ज्वालामूर्ति हैं। एक ही रंग तो वहाँ नहीं है; परन्तु है सब उष्ण और जानते ही हो कि अग्नि मन में हो तो क्रोध बनता है और पदार्थ बने तो विष बनेगा यदि स्वर्ण न बन सका।'

'भगवन्! विष और स्वर्ण में कोई समन्वय है?' सुभद्र को कुतूहल हुआ।

'तुम भिषक् बनोगे?' अग्निदेव ने सहज पूछा - 'पारद अग्नि है और विष भी है। वह शोधित होकर अमरत्व दे देता है। स्वर्ण बना देता है धातुओं को। तुमको रस-सिद्धि के लिए श्रम नहीं करना पड़ेगा।'

'मुझे कोई सिद्धि नहीं चाहिये।' सुभद्र ने अस्वीकार कर दिया - 'लेकिन मन में आया आपका रूप क्रोध - उसका भी पारद के समान परिपाक होता होगा?'

'वैराग्य वही तो बनता है।' अग्निदेव का स्वर शिथिल हो गया - 'यहाँ वरदान देने की स्थिति में मैं नहीं हूँ। ओज-तेज, विवेक-वैराग्य, ज्ञान-भक्ति के एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण। उनके स्वजनों का क्रोध भी कल्याण करता है। अग्नि केवल तुम्हारी कृपा की कामना करता है।'

'मेरे इन अभिन्न मित्र का मूल निवास भगवान् प्रलयंकर के तृतीय नेत्र में है।' वायु देव ने अग्नि की प्रशंसा की - 'विराट पुरुष के ये तृतीय नेत्र हैं और वाक् इन्द्रिय इनसे अधिष्ठित है। तुम इनके वरदान की अवमानना मत करो।'

'मैं कहाँ अवमानना करता हूँ।' सुभद्र ने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया - 'आप दोनों वरदान दें कि मेरी गति, वाणी, शक्ति, सब कन्हाई को छोड़कर कहीं भटके नहीं। किसी अन्य को सन्तुष्ट करने का साधन न बनें।'

'एवमस्तु!' दोनों देवताओं ने एक साथ कह दिया - 'हम अपनी सामर्थ्य के अनुसार सदा इस सम्बन्ध में सावधान रहेंगे।'

'वत्स! अभी तुम संसार में जा रहे हो।' अग्निदेव ने स्नेहशिक्त स्वर में कहा - 'तुमने रससिद्धि अस्वीकार कर दी, इससे समझ

गया कि तुम वहाँ कल्पान्त अमर होकर रहना नहीं चाहते; किन्तु अग्नि की तन्मात्रा रूप है और इसकी इन्द्रिय नेत्र है। तुमको सौन्दर्य तो अभीष्ट होगा?'

'कन्हाई का रूप तो मुझे सदा आकृष्ठ करता है।' सुभद्र ने प्रसन्न होकर कहा - 'उससे सुन्दर कोई है? सृष्टि में आपने किसी को इतना रूप दे दिया.....।'

'उन सौन्दर्य-सिन्धु के सीकर से सृष्टि सुन्दर बनती है।' अग्निदेव ने हाथ जोड़ा - 'मेरा तात्पर्य था कि संसार में तुम एकाकी तो नहीं रहोगे। तुम्हें सुन्दर लड़कियों की..........।'

'मैं एकाकी क्यों रहूँगा? कन्हाई को मेरे साथ रहे बिना कल पड़ेगा?' सुभद्र सुप्रसन्न कह रहा था - 'लेकिन उसे विवाह करने का चाव चढा ही रहता है। सृष्टि की सब सुन्दर लड़कियाँ मुझे मिलें तो मैं सबका कन्हाई से विवाह कर दूँगा। केवल एक कठिनाई मुझे लगती है।'

'वह क्या?' वायु देव को लगा कि सम्भव है सेवा का कोई अवसर मिल जाय। ऐसे अवसर में वे अपने अभिन्न मित्र अग्नि को भी सम्मिलित करने को प्रस्तुत नहीं थे।

'सब लड़कियाँ झट रूठती हैं और रोने लगती हैं।' सुभद्र ने कहा - 'इनके संग से कहीं कन्हाई रूठनेवाला बन गया तो? उसका रुदन तो सहा ही नहीं जा सकता।'

'तुम्हारे सखा के योग्य लड़कियाँ सृष्टि में कहाँ से होंगी।' अग्निदेव ने कह दिया - 'वे तो केवल तुम्हारे अपने लोक में हैं। सृष्टि में तो उनके प्रतिबिम्ब भी विकृत हो जाते हैं।'

वायु और अग्नि दोनों देवता हैं। देवताओं को भला क्यों अनुभव होगा कि पृथ्वी पर मनुष्यों को स्वेद भी आता है और जब स्वेद आवेगा तो तनिक से प्रमाद या संग-दोष से सुदीर्घ केशों को स्वेदज जूँ अपना विहार-वन अवश्य बना लेंगी। सुभद्र को कोई कह देता कि लड़कियों के लम्बे केशों में जुएँ भी हो सकती हैं तो कम-से-कम पृथ्वी पर तो वह अपने सखा के विवाह की बात भूल ही जाता। उसके कन्हाई की कोमल, घूंघराली, घनी अलकें - पर किसी देवता ने सुभद्र के मन में केशोंमें जूँ की बात नहीं कही, यह अच्छा ही हुआ। वह पृथ्वी पर भी जब आया, उसके मन में यह वितृष्णा नहीं थी।

'दो कोण दिशाएँ और भी तो हैं?' सुभद्र ने देख लिया कि वायु और अग्नि के लोकों को अप्रवेश्य कह दिया गया है तो पता नहीं शेष दोनों कोणों की क्या स्थिति हो। वह यहीं पूछकर जान लेना चाहता था।

'दिशाएं तो दस हैं और उन में से अधिक तुम देख चुके हो।' वायुदेव विवरण देने लगे - 'पूर्व दिशा के दिक्पाल देवराज इन्द्र हैं। तुम उनके स्वर्ग हो आये हो।'

'स्वर्ग कोई अच्छा स्थान नहीं है।' सुभद्र के मन में अब तक वितृष्णा बनी है - 'उससे उत्तम तो धर्मराज की पुरी संयमिनी है।'

'वह दक्षिण में है। यमराज दक्षिण के दिक्पाल हैं। पूर्व और मध्य इन अग्निदेव का लोक है।' वायुदेव कहते गये - 'दक्षिण-पश्चिम के मध्य के कोण का नाम नैऋत्य है। निऋति देवता नरकों के संरक्षक हैं।'

'धर्मराज ने मेरे लिए उसे अदृश्य बतला दिया।' सुभद्र ने कहा।

'ठीक ही कहा उन्होंने।' वायुदेव सुभद्र को इस विषय में उदासीन ही रखना चाहते थे। अत: विवरण देते गये - 'पश्चिम-उत्तर के वायव्य कोण में मेरी पुरी के द्वार पर आप उपस्थित ही हैं। उत्तर के दिकपाल कुबेर और पश्चिम के वरुणदेव। लेकिन वरुण की पुरी विभावरी समुद्र के भीतर है।'

'तुम उत्तर-पूर्व के मध्य कोण ईशान के अधिदेवता भगवान शिव से परिचित हो।' अग्निदेव ने इस परिचय को पूरा कर दिया - 'कुबेर की अलकापुरी शिव के कैलाश के समीप ही है। ऊर्ध्व के अधिष्ठाता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और अध: के भगवान् शेष।'

'मैं सृष्टिकर्ता और भगवान शेष के भी समीप हो आया हूँ।' सुभद्र ने स्वत: कह दिया - 'लेकिन आप दोनों ने पार्थिव जगत में कहाँ से उतरना सुगम है, यह कुछ नहीं बतलाया।'

'नैऋत्य कोण में ही पितृलोक है अन्तरिक्ष में।' वायुदेव ने कहा - 'वैसे चन्द्रलोक का अन्तराल है वह। अर्यमा उसके अधिष्ठाता हैं। परन्तु आपको वह बहुत नीरस लगेगा। उससे बहुत उत्तम है प्रचेता (वरुण) की पुरी।'

वरुण की व्यथा-

अगाध अनन्त उच्छलित उदधि अपनी गहराई में ऐसा शान्त था, जैसे वहाँ कभी कोई हलचल होती ही न हो। समुद्र के मध्य की वह विभावरी पुरी; किन्तु इस वर्णन के आधार पर कोई पनडुब्बी पानी में उसे पाने का प्रयत्न करेगी तो मूर्खता करेगी। दूसरे दिक्पालों की पुरियों के समान प्रचेता की पुरी भी सूक्ष्म जगत में ही है। वरुण कोई पार्थिव प्राणी नहीं हैं। वे जलाधिदेवता हैं।

सुभद्र के पहुँचते ही अनेक रंगों की छोटी चपल मछलियों ने उसका शरीर मुख से स्पर्श किया। वे लाल, नीली, सुनहली या रजत-श्वेत चमकीली मछलियाँ जैसे जलपरी हों। उनके स्पर्श से एक गुदगुदी उठती थी।

'वत्स! हमारे जल-जन्तुओं की यह स्वागत पद्धति है। लेकिन इनमें सब दन्तहीन हैं। भय का कारण नहीं है।' अचानक श्वेत सुगठित प्रलम्ब शरीर, अत्यल्प केश, पाशहस्त जलाधिदेवता स्वयं द्वार के समीप आ गये। उनके वस्त्र जैसे लहरों से ही निर्मित हों।

सुभद्र अब तक चकित उस पुरी को देख रहा था। उसका सम्पूर्ण निर्माण शंख, मुक्ताशुक्ति और घोंघों से हुआ था। मुक्ता की झालरें ऐसी लगती थीं जैसे जलबिन्दु स्थिर हो गये हों।

वरुण के आगमन के साथ छोटी मछलियाँ भाग गयीं। सुभद्र ने प्रणाम किया। जल के देवता ने एक सेवक की ओर संकेत किया - 'यह तुमको पुरी दिखला देगा। जो जानना चाहोगे, बतला देगा। हम तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे।'

वरुण का वह चर - सुभद्र ने ऐसा कोई प्राणी अब तक नहीं देखा था। वह दैत्य था; किन्तु सींग वाला जलचर दैत्य। आकृति में बड़े घोंघे के भीतर होने वाले प्राणी के समान; किन्तु बहुत विशाल। था तो पादचारी, परन्तु मछलियों के समान तैर सकता था।

'हम उपदेवता कामरूप होते हैं। मैं तुम्हारे समान आकार अभी बना ले सकता हूँ।' उस विचित्र प्राणी ने कहा - 'किन्तु हमारे सागर के सब जीव सौम्य ही नहीं हैं। वे सब सानुकूल रहेंगे यदि मैं अपने इसी आकार में रहें।'

'मुझे तुम्हारे आकार का प्रयोजन भी क्या है।' सुभद्र ने उसे उसी रूप में साथ रहने की स्वीकृति दे दी।

'आप यहीं से एक दृष्टि उदधि देख लें।' उसने पता नहीं अपनी किसी सिद्धि का प्रयोग किया या कुछ और - सुभद्र को लगा कि समुद्र का बहुत बड़ा भाग पारदर्शी जैसा हो गया है।

सचमुच सागर में योजन-विशाल प्राणी थे। महामत्स्य तिमि, तिमिंगल, महासर्प ही नहीं, उसे जलघोटक, जलगज और उनसे भी भयानक प्राणी दीखे। अष्टपद तो बहुत छोटा लगता था। असंख्य प्रकार के मत्स्य और उनमें से भी अनेकों के शरीर में जोंक के समान चिपटे भारी सर्पाकार प्राणी।

बहुत सुन्दर जलजीव भी थे और वे भी असंख्य थे। समुद्र सचमुच रत्नाकर है। उसमें केवल मूँगे के पर्वत और मुक्ता के अम्बार ही नहीं हैं, दूसरे रत्न, धातुएँ भी इतनी हैं कि पृथ्वी पर उनकी कल्पना नहीं। समुद्री जीवों के मरने पर उनका जो खोल बचता है - शंख, शुक्ति, घोंघा जैसे कुछ नाम ही हम उनके जानते हैं। लेकिन उनके भेद और संख्या का ठिकाना नहीं।

समुद्र गर्भ के अद्भुत उद्यान को देखकर सुभद्र प्रसन्न हो गया। उसे वरुण के चर ने बतलाया - 'हमारा यह उद्यान कठोर-स्पर्श और सागर-गर्भ में सूर्य की किरणें न पहुँचने से इसमें केवल श्वेत रंग है। वस्तुत: यह भी जलजीवों के शरीरों का खोल ही है। वैसे इसमें कोमल स्पर्श भी बहुत हैं।'

'अनेक धाराएं-सी देखता हूँ।' सुभद्र ने जिज्ञासा की - 'कुछ धाराएं तो प्राणिहीन प्रतीत होती हैं।'

'सागर में इतनी सरिताएँ हैं कि पृथ्वी पर सम्भव नहीं।' वरुण-चर ने बतलाया - 'इन्हें धारा कहा जाता है। इनमें अनेक अत्यन्त उत्तप्त हैं। आपने सुना ही है कि उदधि के अन्तराल में बड़वाग्नि है। ये अपनी चौड़ाई में सरिताओं से कई गुनी अधिक हैं।'

'यें गायें!' अचानक समुद्र तल में घूमती कुछ गायों को देखकर सुभद्र प्रसन्न हुआ - 'ये जल में घूमती हैं?'

'सृष्टिकर्ता ने इनका निर्माण है।' चर ने बतलाया - 'ये पृथ्वी पर और जल में समान रूप से चल सकती हैं। इतनी दिव्य हैं कि इनके लोभ ने महर्षि कश्यप और देवमाता को भी शाप दिलवा

दिया। लेकिन ये सन्तान नहीं देती। इनका दूध अमृत है और ये अमर हैं।'[5]

गायों को सुभद्र ने प्रणाम किया। वे दूर न होती तो उन्हें सहलाता; गो-दर्शन के पश्चात समुद्र देखने में उसकी रुचि नहीं रह गयी। वह प्रचेता के पास लौट आया।

'मेरा स्थान अमरावती में ही था। मैं वर्षा का भी नियन्त्रक था; किन्तु इन्द्र ने मुझे निकाल दिया। केवल पृथ्वी तथा सागर के जल का अधिकार रहा मेरे पास।' सुभद्र का सत्कार करके वरुण उससे अपनी व्यथा बतलाने लगे - 'मुझे असुर कहा जाने लगा। इसमें मेरा क्या अपराध है कि मुझे जलीय असुर ही अनुचर मिले और राजसूय यज्ञ करके दैत्य, दानव प्रभृति को पराजय करने में तो सुरकार्य ही किया था।'

'इन्द्र ईर्षालु है।' सुभद्र को सुरपति से कोई सहानुभूति नहीं - 'वह विलासी है, अतः अल्पप्राण भी होगा।'

---

[5] इनका वर्णन 'श्रीद्वारिकाधीश' में पूरा आया है।

'लोकपालों में इन्द्र ही सृष्टिकर्ता के एक दिन में चौदह बदलते हैं।' वरुण ने बतलाया - 'शेष हम सबको कल्पान्त आयु मिली है। असुर भी केवल अमरावती को आक्रान्त करते हैं। उन्हें पता होता है कि दूसरे लोकपालों को कितना दायित्व वहन करना पड़ता है। लेकिन मुझे अमरावती से निर्वासन का दुःख नहीं है और न देवेन्द्र की दुष्टता की व्यथा है। मेरी व्यथा तो मनुष्य बढ़ा रहे हैं और बढ़ाते ही जायँगे। प्रलय से पूर्व मुझे भी परित्राण का कोई पथ नहीं सूझता।'

'मरणधर्मा मनुष्य आप जलाधिदेव को व्यथित बनाता है?' सुभद्र ने आश्चर्यपूर्वक पूछा। उसे वरुण से सहानुभूति हो आयी।

अभी तो सृष्टि का प्रारम्भ है। मनुष्य और पशुओं का भी दोष नहीं है, यदि उनके मल-मूत्र से क्षरित लवण सरिताओं के माध्यम से समुद्र में पहुँचता है।' वरुण ने कहा - 'भगवान सूर्य जल का वाष्पीकरण करके वर्षा करते ही रहेंगे। सागरीय जल उत्तरोत्तर लवणोदधि बनता जायगा। लेकिन मनुष्य को इस लवण की आवश्यकता पड़ेगी। वह पुनः ले जायेगा समुद्र से प्राप्त लवण।'

'तब तो सन्तुलन बना रहेगा।' सुभद्र ने समझा कि वरुण की चिन्ता अकारण है।

'वत्स! तुम अभी धरा के मरणधर्मा इस मनुष्य को जानते नहीं हो। इसे सृष्टिकर्ता ने बुद्धि दे दी है और इसको बुद्धि को बहिर्मुखता के लक्षण मैं अभी से देख रहा हूँ।' वरुण के स्वर में रोष नहीं, बहुत व्यथा थी - 'यह अभी से मत्स्य भक्षी होने लगा है। आगे जाकर इसके वाहन दौड़ेंगे मेरे वक्ष पर और मल-मूत्र ही नहीं, विष से भर देगा यह उदधि का जल। यह ऐसे कृत्रिम पदार्थ बनावेगा और उन्हें जल में उत्सर्ग करेगा कि उन्हें सड़ाकर आत्मसात् करना सागर के लिए भी सम्भव नहीं होगा। जल के वाष्पीकरण में भी बाधा पड़ेगी और यह जब समुद्र के जल के उपयोग पर उतरेगा, सागरीय द्रव्यों को निकालने के दैत्याकार साधन अपनावेगा - वरुण को दरिद्र बना देगा।'

'मुझे अपने कंगाल होने का कोई दुःख नहीं।' वरुणदेव बहुत दुखी थे - 'तुम जानते ही हो कि सरिताएँ मेरी पत्नियाँ हैं। कोई उनका सम्पूर्ण जल मल-मूत्र तथा विष से दूषित करदे - यह भी सह लेता मैं यदि इससे सृष्टिकर्ता की सर्वोत्तम कृति मानव सुखी होता। वह तो इस सबसे अपने लिए असंख्य रोगों, कष्टों और अपमृत्यु का सर्जन करेगा।'

'आप पूजा प्राप्त करते हैं मनुष्यों से।' सुभद्र ने कहा - 'उनसे आपकी सहानुभूति उचित है।'

'अभी पूजा प्राप्त कर रहा हूँ; किन्तु वरुण को वर्तमान नहीं, उनका भविष्य ज्ञान ही बहुत व्यथित कर रहा था - पूजा तो मनुष्य परमात्मा की भी त्याग देनेवाला है। अपने अधःपतन के दिनों में वह हम देवताओं को कहाँ पूछने चला है।'

'तब वह अपना संहार स्वयं आमन्त्रित करेगा।' सुभद्र चिन्ता करना नहीं जानता - 'कन्हाई को कोई क्रीड़ा सूझती होगी।'

'मानव तो जल की सत्ता ही समाप्त करने के साधन जुटावेगा।' वरुण को आश्वासन नहीं मिल रहा था - 'वह वृक्षोन्मूलन करके प्राणवायु की प्राप्ति के लिए जल पर निर्भर करेगा और जलीय तत्व का भी विभाजन करने लगेगा।'

'मेरी अपनी पहुँच तुम्हारे सखा तक नहीं है।' कुछ क्षण रुककर स्वयं वरुण ने कहा - 'अधिक-से-अधिक मैं उदधि में शेष-शय्यापर शयन करते अपने जामाता से प्रार्थना कर सकता हूँ।'

'आपको उनसे निराशा क्यों है?' सुभद्र ने अब पूछा। भगवान शेषशायी उसे अत्यन्त कृपामय ही प्रतीत हुए थे।

'मैं उनकी कोई सेवा नहीं कर पाता।' वरुण बोले - 'मेरी पुत्री अतिशय करुणामयी है। उसे सब अपने ही पुत्र लगते हैं। वैसे वह अजात-पुत्रा - मैं तरस ही गया कि मुझे मातामह कहनेवाला कोई दौहित्र होता!'

'आप उन श्रीहरि से प्रार्थना करें!' सुभद्र के पास ही वरुण को आश्वासन देने का दूसरा क्या उपाय था? उसने जलाधिदेवता से विदा ली। उसे अब अन्तिम लोकपाल के भी दर्शन कर लेने थे।

कातर कुबेर-

'अच्छा, आप निधिपति कुबेर हैं।' सुभद्र अन्ततः बालक है। अलका आकर जब उसने राजाधिराज वैश्रवण को देखा, कुछ पीठ झुकाकर, सिर उठाकर विनोदपूर्वक चिढ़ा देने के ढंग से बोल पड़ा।

'हाँ वत्स! यह कुरूप[6], काना, कुबड़ा, काला मोटा तुन्दिल व्यक्ति कुबेर कहा जाता है।' वैश्रवण ने स्वयं अपनी कुरूपता का वर्णन करके अपने को चिढ़ाये जाने से बचा लिया - 'जिसका एकमात्र शेष नेत्र पीला, गोल, दो नेत्रों जितना बड़ा है और जिसके पैर ठिगने, टेढ़ेप्राय हैं। इसी से यह नरवाहन है। दूसरे के कन्धे पर चलने को विवश।'

'लेकिन आप इतनी भारी गदा रखते हैं।' सुभद्र ने अब निधिपति के शस्त्र की ओर देखा।

'सृष्टिकर्ता क्रूर नहीं हैं। वे किसी से एक या अधिक इन्द्रिय छीनते हैं तो उसके दूसरे अंग को सशक्त बना देते हैं।' वैश्रवण ने बतलाया - 'मैं यक्षों का अधिपति हूँ। यक्ष राक्षसों के ही भाई हैं

---

[6] बेर का अर्थ है शरीर। कु+बेर - कुरूप शरीर।

और सदा भूख-भूख करते रहने के कारण ही तो यक्ष[7] कहलाते हैं। इनको आतंकित न रखा जाय तो ये उत्पात ही करते रहें।'

'आप ऐसे उपद्रवियों को क्यों पालते हैं?' सीधी बात कि जो स्वभाव से उत्पाती हैं, उनको पास ही क्यों रखा जाय।

'इसलिए कि निधिपति हूँ।' कुबेर गम्भीर हो गये - 'संसार में सब मेरी सम्पत्ति को छीनने, चुरा लेने को सदा उत्सुक रहते हैं। शान्त, सौम्य लोग तो उसकी रक्षा कर नहीं सकते। सशक्त, उग्र रक्षक ही रक्षा-सक्षम होते हैं।'

'आपकी कोई निधि मैं कभी नहीं लूँगा।' सुभद्र ने कुबेर को आश्वासन दिया। वह अपनी ओर से ही नहीं, अपने सखाओं की ओर से भी आश्वस्त करना चाहता था - 'मेरा कोई सखा नहीं लेगा और कन्हाई तो केवल गुञ्जा, कर्णिकार या कदम्ब के कुसुमों से सुसज्ज हो जाता है।'

'आप में से कोई स्वीकार कर सकता तो सार्थक हो जाती सम्पूर्ण निधियाँ।' वैश्रवण का स्वर भर आया - 'आपके सखा के सानुकूल होने से ही भगवती श्री की कृपा से कुबेर निधिपति है।'

---

[7] यक्ष का अर्थ है - खा लो!

'क्या हैं आपकी निधियाँ!' सुभद्र ने भोलेपन से फिर आश्वासन दिया - 'आप केवल नाम बता दो। मैं उन्हें देखना भी नहीं चाहता। किसी का कोष देखना अच्छी बात नहीं।'

'निधि केवल नौ हैं - 1. पद्म, 2. महापद्म, 3. शंख, 4. मकर, 5. कच्छप, 6- मुकुन्द, 7. कुन्द, 8. नील, 9. वर्चा।' कुबेर को स्वयं लगा कि नाम गिना देना पर्याप्त नहीं है। अतः उन्होंने व्याख्या कर दी।

1. स्वर्ण, रजत, ताम्रादि समस्त बहुमूल्य खनिजों का पता एवं प्राप्ति पद्म पर निर्भर है। यह एक प्रकार की शक्ति है जो शरीर के भ्रूमध्य चक्र में स्थित है।

2. महापद्म भी शक्ति ही हैं; किन्तु सहस्त्रार में रहती है। इससे मुक्ता, प्रवालादि सागर गर्भीय रत्नों का पता लगता तथा प्राप्ति होती है।

3. शंख सागर के दक्षिणावर्त शंख को केवल प्रतीक सूचित करता है। वस्तुत: यह अमंगल-वारिणी शक्ति कण्ठचक्र में वास करती है।

4. मकर - यह हृदय चक्र में रहनेवाली ऐसी शक्ति है, जिससे दिव्यौषधियाँ पहिचान ली जाती हैं।

5. कच्छप - यह नाभिचक्र की शक्ति है। इसी के जागरण के फलस्वरूप योगी रससिद्धि का रहस्य पाकर अमरत्व पा लेता है।

6. मुकुन्द का निवास द्वितीय चक्र में है। इसको पाकर अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं।

7. कुन्द मूलाधार निवासिनी निधि है। यही कुल कुण्डलिनी कही जाती है। कवित्त्व शक्ति इसके जागरण का प्रसाद है। इसके द्वारा कपिला गौ[8], श्याम कर्ण अश्व, ऐरावत कुलोद्भव श्वेत गजादि मिल सकते हैं।

8. नील - गड़े धन का पता देने वाली शक्ति है।

9. वर्चा अर्थात् वर्चस्विता - यह तुममें स्वभाव से है।

---

[8] जिस गाय के खुर, थन, पूँछ, नेत्र, जिह्वा, सिंग सब श्वेत हो। शरीर में कहीं दूसरा रंग न हो, वह कपिला कही जाती है।

'आप धनाधिप भी तो हैं।' सुभद्र ने पूछा।

'क्योंकि संसार का सम्पूर्ण धन निधियों के ही अन्तर्गत आ जाता है, मुझे लोग धनेश कहते हैं।' वैश्रवण ने विनयपूर्वक कहा - 'भगवान रुद्र के पड़ोस में बसने का यह प्रसाद मिला मुझे कि वे पुरारि इस कुबड़े को सखा स्वीकार करते हैं। उनके गणों का भय अधिकांश लोलुपों को मुझसे दूर रखता है। वैसे भगवती सिन्धुसुता ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति की स्वामिनी हैं। उन्होंने इस जन को कृपा कर के यह धनाधीश पद दे दिया है।'

'यक्ष ओर भूतप्रेत - संग तो आपने बहुत सुन्दर चुना है।' सुभद्र ताली बजाकर हंसा। उसने कहा नहीं कि 'आपके रूप के ही अनुरूप यह संगति है।'

'बहुत सशंक रहना पड़ता है निधिपति को।' कुबेर ने कहा - 'सम्पत्ति को कोई कभी छीन ले सकता है। सृष्टिकर्ता ने तपस्या, मन्त्र तथा एकाग्रता - समाधि में सिद्धियाँ पाने की शक्ति तो रखी ही, अत: योग में रहती ही है; किन्तु अनेकों को जन्म से सिद्ध बना देते हैं। यह सब उतनी आशंका का कारण न होता यदि

औषधि में यह शक्ति न होती। औषधि की शक्ति का अन्वेषण कोई कभी कर ले सकता है।'

'आप संरक्षण के लिए सदा सचिन्त रहते हैं।' सुभद्र को दया आयी। जिसे लेकर केवल चिन्ता मिले, वह सम्पत्ति क्या काम की।

'मेरे यक्षों को भूत-प्रेतों का सहयोग सरलता से मिल जाता है।' कुबेर ने कहा - 'अनधिकारी के प्रयत्न में ही वे बाधक नहीं बनते, अनधिकारी के द्वारा अधिकृत सम्पत्ति को भी वे सुरक्षित कर देते हैं। वह उसके उपभोग से वञ्चित कर दिया जाता है और केवल उपार्जक तथा रक्षक रह जाता है। ऐसे वित्तप्राण प्राय: मरणोपरान्त सर्प या प्रेत बनकर यक्षों के सेवक हो जाते हैं।'

'आपको इससे क्या लाभ?' सुभद्र ने सीधा प्रदन किया।

'वत्स! तुम बालक हो। तुम्हें सम्पत्ति के संग्रहीत होने और उसका स्वामी अनुभव करने के सुख का पता नहीं है।' कुबेर ने कुछ अहंकारपूर्वक ही कहा - 'इसी स्वामित्व के कारण वैश्रवण ब्राह्मणों के यज्ञों में राजाधिराज कहकर स्तुत होता है। सब सकाम

व्यक्ति अपनी कामना-पूर्ति के लिये कुबेर की कृपा-याचना करते हैं।'

'कन्हाई भी अद्भुत है।' सुभद्र को कुबेर के अहंकार ने रुष्ट कर दिया - 'एक कुबड़े को उसने इतना अज्ञ बना दिया कि वह यह भी नहीं समझता कि सृष्टि में स्तुति करने तथा शरण लेने योग्य केवल श्रीव्रजेन्द्रनन्दन है। लेकिन ठहर, मैं बतलाता हूँ तुझे। तेरी अलका के पास ही कैलास है। मैं अम्बा से कहता हूँ कि उन्होंने यह क्या पडोस में काना-कुबड़ा पाला है।'

'मैं आपकी शरण हूँ।' गदा फेंककर वैश्रवण अपने वाहन बने मनुष्य (यक्ष) के कन्धे से उतरे और उन्होंने सुभद्र के चरण पकड़ लिये - 'बड़ी कठिनाई से भगवान शिव के समझाने पर वे शैलसुता मुझसे सन्तुष्ट हुई थीं। उनकी ओर देखने से ही मेरा एक नेत्र जाता रहा।[9] उनका रोष मुझे इस बार मार ही देगा।'

'तू विश्रवा मुनि का पुत्र हो गया तो समझता है कि वैश्रवण तेरा ही नाम है?' अपने चरणों में लुढ़के तुन्दिल निधिपति को सुभद्र ने डाँटा - 'निश्चयपूर्वक जो एकमात्र श्रवणीय है वह

[9] 'शिव-चरित' में यह पूरी कथा गयी है।

श्यामसुन्दर ही वैश्रवण - उसके अतिरिक्त अन्य कोई राजाधिराज हो कैसे सकता है। श्रुति और श्रौत ब्राह्मण उसके अतिरिक्त किसी की स्तुति करेंगे? कोई काना विप्रों का वन्दनीय बन सकता है?'

'आप जानते ही हैं कि भगवती सिन्धुसुता उलूकवाहिनी हैं।' कुबेर हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाये - 'उनके इस आश्रित पर आप दया कीजिये। मैं अबसे आपकी व्याख्या को कभी नहीं भूलूंगा। वचन देता हूँ कि वैश्रवण की स्तुति में जिनको आपके सखा का स्मरण आवेगा, कुबेर उनकी सेवा अपना सदा सौभाग्य मानता रहेगा।'

'अच्छा, अम्बा को उपालम्भ नहीं दूँगा।' सुभद्र सन्तुष्ट हो गया।

'आपका इसी समय कैलास जाना आवश्यक है?' कुबेर अत्यन्त भय-कातर हो रहे थे। उन्हें लगता था कि इन्होंने उमा-महेश्वर से कुछ चर्चा भी कर दी तो अलका के छिन जाने में कोई सन्देह नहीं रहेगा। उनका लोकपाल पद भले बना रहे; किन्तु भगवान व्योमकेश भी उन्हें पड़ोस में रखने को प्रस्तुत नहीं होंगे।

'मैं तुम्हारे भय को समझता हूँ।' सुभद्र ने कुबेर को निश्चिन्त कर दिया - 'केवल अम्बा के समीप जाकर उन्हें कह देना कि उनका यह शिशु संसार में जा रहा है - इसका उन्हें ही स्मरण रखना है।'

'भगवान पुरारि से आपको कुछ नहीं कहना।' कुबेर ने पूछा।

'मुझे किसी की मध्यस्थता प्रिय नहीं।' सुभद्र चलते-चलते कह गया - 'बाबा के पदों में यहीं से प्रणाम!'

असहाय अर्यमा-

'अकेले रहते हैं आप यहाँ?' पितृलोक पहुँचकर सुभद्र चौंक गया। चन्द्रलोक के इस स्थान पर तो अर्यमाजी के अतिरिक्त कोई जान ही नहीं पड़ता। न सेवक, न सहचर। भला ये अकेले क्या करते होंगे?

चन्द्रलोक पितृलोक है; किन्तु आपके सम्बन्धी शरीर त्यागकर जाते हैं, तब यहीं आपको नहीं दीखते, चन्द्रमा पर पहुंचकर आप उनसे सम्बन्ध स्थापित करने की आशा कैसे कर सकते हैं? वे इसमें समर्थ होते तो जाते-जाते अपने पुत्र, भाई आदि से मिलकर जाते। उनके पास पाञ्चभौतिक देह तो है नहीं। उनके आतिवाहिक शरीर का मानव-शरीर के सम्मुख प्रकट हो जाना भी अपवाद रूप से - जब उन्हें किन्हीं कारणों से विशेष शक्ति, सुविधा मिल जाय तभी सम्भव है। यह भी अल्पकालिक होती है।

'अकेला और उपोषित भी।' अर्यमा ने हँसकर ही कहा - 'पितृलोक तो पान्थशाला अथवा प्रतीक्षालय है। अभी सृष्टिकर्ता के प्रथम कल्प का सतयुग ही आरम्भ हुआ है। अतः अभी तो प्रतीक्षालय को भी पथिकों की प्रतीक्षा ही करनी है।'

'आप उपोषित क्यों हैं?' सुभद्र को आश्चर्य के साथ दया भी आयी।

'पान्थशाला के प्रहरी का निर्वाह तो वहाँ पधारे पथिकों की सेवा से होता है। यहाँ पितृगण आने लगेंगे तो उनकी सेवा करके उनके स्वधा भाग का अल्पांश अर्यमा को भी मिलेगा।' उस लोक के एकाकी वे स्वामी असन्तुष्ट नहीं थे - 'अभी तो अग्निष्वात्तादिगण भी नहीं आये हैं। पृथ्वी से जब पथिक आने लगेंगे, मेरी सहायता को ये गण सृष्टिकर्ता भेज देंगे। लेकिन अर्यमा को तपस्या का यह अवसर पुनः नहीं मिलेगा। अत: अल्पकालिक व्रत मेरे आनन्द का ही निमित्त है।'

'आपका लोक पान्थशाला?' सुभद्र को लगा कि अर्यमा से उसे बहुत कुछ सीखना है।

'कर्मयोनि केवल मनुष्य योनि है। उसे सृष्टिकर्ता ने बड़ी सीमा तक कर्म करने में स्वतन्त्र कर दिया है। अपने कर्मों के अनुसार ही उसे आगे जन्म तथा परिस्थिति प्राप्त होती है।' अर्यमा की इस बात में तो कोई आपत्ति होनी नहीं है।

'जीव का जन्म भी उसके कर्म-सम्बन्ध से होता है। अब यह तो आवश्यक नहीं कि कोई मनुष्य मरे, तब जिसे उसका पिता या माता होना हो, वह भी उसी योनि में जन्मकर वह अवस्था प्राप्त कर चुका हो कि सन्तान उत्पन्न कर सके। सबके कर्म तो पृथक्-पृथक् हैं। अत: मरनेवाले मनुष्य को जन्म लेने के लिये तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब तक उसके पिता-माता होने वाले जन्म लेकर उपयुक्त अवस्था के न हो जायँ। केवल माता-पिता का ही तो सम्बन्ध नहीं बनता; भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्रादि सहस्त्रों सम्बन्ध एक जन्म से जुड़े हैं।' अर्यमा ने कहा - 'जीव अनेकों का कर्मऋण चुकाने अथवा दूसरों को दिया ऋण पाने उत्पन्न होता है।'

हम-आप सरलता से समझ सकते हैं कि जब रेलगाड़ियों को अनेक मार्गों पर चलना है तो जंकशन भी रहेंगे और वहाँ प्रतीक्षालय के बिना काम नहीं चलेगा। प्रत्येक यात्री को जंकशन पर गाड़ी बदलने के लिए रुकना न पड़े, अभीष्ट ट्रेन तत्काल मिल जाया करे, ऐसी व्यवस्था सब जंकशनों पर सम्भव नहीं है। कर्म के फल से जब विविध योनियों में जन्म होता है और कमक्षेत्र में हमारा सैकड़ों लोगों से - प्राणियों से भी सम्बन्ध है, तब शरीर-त्याग के तत्काल पश्चात जन्म मिलने की बात बन नहीं सकती। तब प्रतीक्षालय चाहिये ही। वही पितृलोक है।

'आप उपेषित हैं, तब यहाँ आने वालों को ही अपेक्षित सुविधाएँ कैसे मिलती होंगी?' सुभद्र ठीक ही सोच रहा था कि जब लोकपति ही को कुछ उपलब्ध नहीं तो यहाँ आने वाला क्या पावेगा।

'यहाँ किसी के कर्म का फलोदय नहीं होता; किन्तु अन्तःकरण उसके साथ रहता है। अत: तृप्ति-अतृप्ति का अनुभव होता है।' अर्यमा समझा रहे थे - 'उसके उत्तराधिकारी उसके निमित्त जो श्राद्ध करते हैं, उससे उसकी तृप्ति होती है। उस श्राद्धांश में ही मेरा भाग रहता है क्योंकि स्वधा के कव्य को उचित अधिकारी तक पहुँचा देने की सेवा मुझे प्राप्त है।'

'दूसरों के द्वारा किये कर्म का फल दूसरे को मिलता है?' सुभद्र ने पूछा।

'अनेक अवस्थाओं में मिलता है।' अर्यमा ने सूत्र ही समझाया - 'जो प्राणी यहाँ आता है, अपना उपार्जन छोड़ आया है। उसी के धन का उपयोग उसके निमित्त किया गया तो उसे उसका फल क्यों नहीं प्राप्त होगा। उसकी सम्पत्ति न भी हो तो भी पुत्र, पत्नी आदि का कर्मफल पिता पति को मिलता ही है। श्रद्धा

एवं संकल्पपूर्वक पुण्यकर्मों का दान वैसे ही सम्भव है जैसे अर्जित धन या पदार्थ का। पुण्य भी तो अर्जन ही है।'

'यदि उत्तराधिकारी श्राद्ध न करें।' सुभद्र ने यह समझकर पूछा कि जब कर्ता दूसरे हैं, तब करना-न करना उनकी इच्छा पर है।

'किसी पान्थशाला में कोई आ पड़े, उसके समीप कुछ हो नहीं और उपार्जन का अवसर भी न हो, ऐसी ही अवस्था इस लोक की है। मैं भी उसकी सहायता करने की स्थिति में नहीं।' अर्यमा ने खेदपूर्वक कहा - 'उत्तराधिकारी पिण्ड न दें ऐसा होना सम्भव तो है। कलियुग में ऐसा होगा। तब क्षुत्-पिपासा से पीड़ित पितर यहाँ रहकर भी नर्क में पड़े के समान कष्ट पाते हैं।'

'क्षुत्-पिपासा?' सुभद्र चौंका। इन लोकों में भी भूख-प्यास लगती है, इसका अब तक इसने अनुभव ही नहीं किया था।

'पृथ्वी का अन्त:करण यहाँ वैसा ही आता है।' अर्यमा ने बतलाया - 'पृथ्वी पर मनुष्य को जो मानसिक अतृप्ति होती है, वह यहाँ साथ आती है। यहाँ उसे तृप्ति-अतृप्ति का अनुभव होता है। लेकिन पदार्थ के माध्यम से ही तृप्ति का अनुभव करने का

अभ्यासी होने के कारण श्राद्ध में पदार्थोत्सर्ग हुए बिना यहाँ वह तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता।'

'आपके समीप पितृगण कब आने लगेंगे?' सुभद्र को दया कह रही थी कि अर्यमा का उपवास उनके आने पर ही टूटना है तो शीघ्र आवें वे।

'सतयुग में तो कोई आता नहीं। पृथ्वी पर मनुष्य इस युग में स्वभाव से तप-ध्यान में तन्मय है। अत: वह मुक्त न भी हुआ तो स्वर्ग या अन्य उत्तम लोकों को सीधे जाता है।' अर्यमा कह गये - 'जैसे आपके माता-पिता देह त्यागकर परमधाम पधारे। अतः सतयुग में श्रुति का श्राद्धांश सक्रिय ही नहीं होता। त्रेता में जब मनुष्य की प्रवृत्ति में रजोगुण भी आ जाता है, उसे पृथ्वी पर पुनर्जन्म प्राप्त होने लगता है। तभी उसे पितृलोक आकर प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है और श्राद्ध भी पृथ्वी पर सम्पन्न होने लगता है। लेकिन हमारे पितृलोक का दिन भी देवताओं के समान ही है। अतः मनुष्यों के एक वर्ष में हमारा एक दिन ही होता है। मुझे अल्पकाल ही उपवास करना पड़ेगा।'

'मैं यहाँ से मर्त्यधरा पर जाना चाहता हूँ।' सुभद्र ने अब अपनी बात कही - 'वहाँ जन्म लेने के पूर्व मुझे कितनी प्रतीक्षा आपके यहाँ करनी है?'

'आप मुझे लज्जित करते हैं।' अर्यमा ने हाथ जोड़ा - 'आपका कोई आतिथ्य मैं नहीं कर सका। अपनी असमर्थता पर मुझ वैसे ही लज्जा है। मेरे लोक में बालक कोई नहीं आते। यह तो आप इस दिव्य देह से आ गये। आपका कोई संचित प्रारब्ध तो है नहीं कि उसके उदयकाल तक आपको प्रतीक्षा करनी पड़े।'

'आपके यहाँ सब वृद्ध ही आते हैं?' सुभद्र को कुतूहल हुआ।

'प्राय: कम ही युवक या तरुण आते हैं। केवल मनुष्य आते हैं।' अर्यमा ने बतलाया - 'यद्यपि धरा पर शिशु भी मरते हैं; किन्तु जिनको नवीन कर्म का अवसर ही नहीं मिलता, वे तो मनुष्य जन्म पाकर भी भोगयोनि के प्राणी जैसे ही होते हैं, कर्म भोग पाने उत्पन्न हुए। उनका अगला जन्म पूर्व से निश्चित रहता है।'

'आप मेरे धरा पर जन्म धारण की व्यवस्था....।' सुभद्र ने संकोच तथा आग्रह के साथ कहा; किन्तु उसकी बात पूरी नहीं हुई।

'मैं जैसे असहाय हूँ आपका स्वागत करने में' अर्यमा ने कहा - 'किसी को इस लोक में प्रविष्ट करने और यहाँ से भेजने में भी वैसे ही असहाय हूँ। मैं तो श्राद्ध-विवर्जित असहाय पितरों को तृप्ति भी नहीं दे पाता। केवल आगत कव्य को उचित पितर तक पहुँचा देने का कार्य मैं करता हूँ।'

सुभद्र सोचने लगा कि अब वह कहाँ जाय अथवा क्या करे। क्योंकि मर्त्यधरा की महिमा सुन रखी है इसने। अपने कन्हाई तक इन दिव्यलोकों के माध्यम से पहुँचना सम्भव नहीं दीखता। तब धरापर जाना ही है।

'मेरे यहाँ से कर्म-नियन्ता ही प्राणी को पृथ्वी पर पहुँचाते हैं।' अर्यमा ने कहा - 'लेकिन आपके कोई पूर्व कर्म ही नहीं तो आपका नियन्त्रण वे भी कैसे करेंगे?'

'आपका यह दिव्य देह तो ऐच्छिक है।' अन्ततः अर्यमा देवता हैं, लोकपाल हैं। उन्होंने अपने को एकाग्र किया और तब हँसकर बोले - 'आपका पार्थिव शरीर कहीं गया तो है नहीं। वह प्रकृति के सूक्ष्म स्तर में सुरक्षित आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप इच्छा करते ही पुनः उसी शरीर को प्राप्त करके पृथ्वी पर जीवन

का प्रारम्भ क्यों नहीं करते? अन्य देह आपको अभी प्राप्त हो, ऐसा तो कोई नियम मुझे दीखता नहीं है।'

'वही देह प्राप्त हो जायगा।' सुभद्र ने सोल्लास कहा और इच्छा करते ही वह पितृलोक से वैसे ही अदृश्य हो गया, जैसे पहिले पृथ्वी से हुआ था।

।। पूर्व खण्ड परिपूर्ण ।।